आर्य जीवन

मूल लेखक

श्री नीलकण्ठदास M. A., M. L. A.

छाया लेखक

श्रीजैनेन्द्र कुमार

प्रकाशक

हिन्दी विद्यामन्दिर

चाँदनी चौक, दिल्ली

सम्वत् १९८५

प्रथमवार ।] [मूल्य १।)

एक बात

पुस्तक की भूमिका लिखते मुझे भय होता है। कारण कि मनोरंजक पुस्तकों की भूमिकाएं भी गम्भीर विश्लेषणात्मक होती हैं। फिर यह पुस्तक तो आदि से अन्त तक गम्भीर है। मैं नहीं कल्पना कर सकता कि इस पुस्तक का हिन्दी संसार में कैसा स्वागत होगा। फिर भी मैं इसे हिन्दी संसार के सन्मुख उपस्थित करने का साहस करता हूँ—साहस शब्द इस लिये प्रयोग करता हूँ कि प्रथम ही बार मैं इस नीरस वस्तु को लेकर हिन्दी जगत के सामने आ रहा हूँ। मित्रगण मेरी आकृति और वेश भूषा को देख कर मुझे 'गद्य' कहकर पुकारते हैं—अभिप्राय नीरस से है। पहिले मैं इस बात पर हंसता था—अब चिन्तित होता हूं—बादाम के कठोर छिलके के भीतर कैसी महामूल्यवती मींग है—इसे बेर खाने वाले कैसे जानेंगे! मेरे क्षुद्र हृदय में जो रसका अटूट झरना है उसे मैं क्या असमय ही बहा दूं? इस लिये कि मित्र देखें और सराहें। नां, मैं इस का जैसा मतवाला चाहक हूं वैसा ही उसे खर्च करने का कंजूस भी हूं। मैं उसे बहुत अवश्यकता होने पर ही खर्च करना चाहता हूं—आप को भी यही सलाह देता हूं।

परन्तु यह ग्रन्थ क्या नीरस है? रस किस में कब आता है, यह तो निश्चय नहीं कहा जा सकता? असंख्य महापुरुषों को ऐसे रस में मग्न देखा गया है, जिसे कोई समझ ही नहीं सकता यह नीरस पुस्तक मैंने भी एक रस में मग्न हो कर लिखी है—मैं आशा तो करता हूँ बहुत रसिक इसमें मग्न होंगे-पर यदि एक भी सहृदय ने इसे सराहा तो मैं अपने प्रयास को धन्य समझूंगा।

संस्कृत साहित्य में ललित और सरससाहित्य कमी नहीं परन्तु व्याकरण और न्याय पर महीनों शास्त्रार्थ करने वाले, तर्क और व्याकरण की फक्किकाओं में उन्नत होने वाले संस्कृत जगत ने अपने मध्यकाल में उत्पन्न किये थे।

हिन्दी मध्य काल में है। असंख्य हल्के साहित्य की पुस्तकें ~ .. चुकीं। उर्दू का यौवन ढल गया और हिन्दी अब प्रौढ़ बनेगी हिन्दी अब गहराई में उतरेगी। उस उतार की यह एक सीढ़ी है यह मेरी धारणा है।

एक बात तो कहनी ही है—यह पुस्तक मेरी नहीं। प्रख्यात उत्कल विद्वान, अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित, स्वराज्य दल के प्रबल महारथी श्री पं० नीलकण्ठदास M.A., M. L. A की उत्कल भाषा की छाया के आधार पर है। मैं उत्कल रत्ती भर नहीं जानता न समझ ही सक्ता हूं। परन्तु मैं पं० जी के सन्मुख घन्टों बैठा हूं उन्होंने अंगरेजी भाषा में मुझे अपनी पुस्तक के एक २ अध्याय का विषय समझाया है और मैंने फिर एकान्त में उसे लिखा है। मेरी इस कठिनाई को अनुभव करके मेरे परिश्रम को पाठक करुणादृष्टि से देखेंगे यह आशा है। और श्री पं० नीलकण्ठदास की प्रतिभा और विचारों की दाद देंगे।

मुझे दुःख है कि पुस्तक की छपाई बहुत उत्तम नहीं हुई—और प्रूफ की अनेक अशुद्धियां इस लिये रह गईं कि प्रवास में रहने के कारण मैं प्रूफ स्वयं न देख सका। देखूं इस 'गद्य' का यह 'गद्य' हिन्दी संसार की आखोँ में चढ़ता है कि नहीं। और इस 'गद्य को आगे बढ़नेका प्रोत्साहन मिलता है या यहीं चिरविश्राम।

श्री जैनेन्द्रकुमार
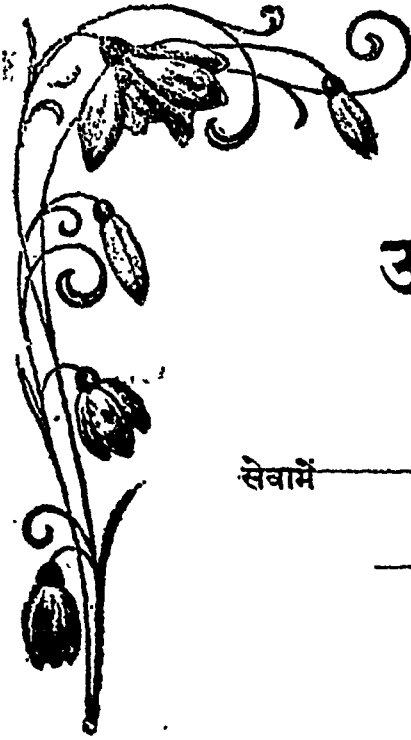
उपहार

सेवा में ____________________

____

____

विषय सूची

आर्यजीवन

प्रथम अध्याय

सूचना ।

व जंतु वृक्ष-लता काष्ठ-पाषाण आदि असंख्य वस्तु हम देखते हैं और देखते ही कह देते हैं कि उनमें से कुछ तो निर्जीव या जड़ हैं और बाकी सजीव हैं—जीवन रखते हैं। जड़ वस्तु में स्वयं वृद्धि या क्षय पाने, या स्वयं परिवर्तित होने की शक्ति नहीं होती। पत्थर का टुकड़ा, भूमि पर जिस तरह गिरेगा, यदि कोई बदले नहीं तो, उसी तरह पड़ा रहेगा; न तो वह बढ़ेगा और न पानी, हवा या और किसी पदार्थ की रगड़ या आघात के बिना घटेगा ही। किंतु सजीव वस्तु के विषय में ऐसा नहीं—वह स्वयं ही बढ़ती है; रोगी या वृद्ध होने से स्वयं ही घटती है, और अवस्था के परिवर्तन से स्वयं ही परिवर्तित होती है। एक साधारण पौधा अंधेरेमें रहनेपर भी मानों रोशनीको पहिचानकर अपनी शाखाएं उस ओर बढ़ाता है; खाद पाने से वह पुष्ट होता और आघात लगनेपर झुक या मुड़ जाता है। यह सब कुछ क्यों होता है?—इसलिये कि उसमें जीवन है।

जीवन एक नीति है—वृद्धि, क्षय, विवर्तन आदि का नियम है। यह नीति आभ्यंतरिक शक्ति के रूप में जीवित शक्ति के भीतर रहती है और इसी आत्मशक्ति-मय नीति के बल से जीवित वस्तु अपने खाद्य,

अर्थात् वृद्धि-क्षय-परिवर्तन के उपादान संग्रह कर आत्मविकाश करती है। यद्यपि जीवन एक आभ्यंतरीण शक्ति है तो भी यह नीति ही उसका प्रधान लक्षण है—इस नीति की क्रिया को देख कर ही हम जीवन को पहिचानते हैं।

इस क्रिया में फिर, एक पूर्व–पर धारा या परम्परा है। इस लिये कहा जाता है कि जीवन एक परम्परा है। जीवंत वस्तु प्रति दिन बदल जाती है। पौधे से वृक्ष भिन्न है, शिशु से युवक में बहुत भिन्नता है—२५ वर्ष पहिले हम वह न थे जो आज हैं। तो भी इस जीवन की परम्परा के लिये पौधा और वृक्ष एक वस्तु है, शिशु, युवक और वृद्ध एक ही मनुष्य है। बालक से शरीर में असमान होने पर भी वृद्ध में बचपन की स्मृति और संस्कार स्थित रहते हैं और वह उन स्मृतियों और संस्कारों को अपना बतलाता है। यदि जीवन में परम्परा न हो तो यह संभव नहीं।

इसी परम्परा के मेरुदंड-स्वरूप जीवन में एक आदर्श होता है। प्रारम्भ से अन्त तक जीवन उसी आदर्श का अनुसरण करता है। प्रत्येक जीवंत वस्तु, जन्म से मरण तक विभिन्न उपायों से और विभिन्न क्रियाओं के भीतर उसी एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। यह आदर्श, यह लक्ष्य, यदि बिल्कुल लुप्त हो जाय तो जीवन का अस्तित्व भी न रहे। वृक्षत्व लाभ करना वृक्ष जीवनका आदर्श है; इसी तरह मनुष्य का सारा जीवन मनुष्यत्व-लाभ की ओर उन्मुख रहता है। पौधा देखनेसे पता चल जाताहै कि वृक्ष क्या होगा-बड़का अंकुर कभी फलकर आमनहीं होसकता। मनुष्य के संबन्ध में भी यही बात है। पूर्ण मनुष्यत्व की धारणा जिसकी चाहे जो हो, लेकिन प्रत्येक अपनी क्रियाओंका विधान ऐसाकरताहै किजिससे

वे उसके आदर्श-लाभमें उक्त धारणा की पूर्ति में सहायक हों। इससे हमें ध्यान रखना चाहिये कि जीवन रूप शक्तिके साथ वह नीति, वह परम्परा वह आदर्श—ये तीनों भाव संश्लिष्ट रहते हैं। इनको छोड़ देने पर जीवन एक जड़-पिंड हो जाता है-उसमें जीवन के लक्षण नहीं रह जाते।

केवल मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष लता आदि प्रकृति की जीवंत वस्तुओं में ही जीवन देखा जाता हो-सो नहीं, जहां कहीं यह नीति, यह आदर्श देखे जायं-मानना चाहिये वहीं जीवन है; वहां ही जीवन के अभ्युदय, विकास, और विवर्तन की आलोचना करनी चाहिये। आलोचना-वैज्ञानिक लोग व्यक्तिगत जीवन के साथ वंश या परिवार-गत समाज-गत, धर्म-गत या जाति-गत जीवन के भी अभ्युदय और विकाश और क्षय और विनाश देखते हैं—जीवन परम्परामें इन सबके अनुष्ठान और व्याप्ति को खोजते हैं। उन सब में एक ही प्रकार की जीवन की नीति कार्य करती है; सही लेकिन तो भी हरेक का व्यक्तित्व भिन्न २ है। व्यक्ति समाज नहीं है, समाज धर्म नहीं है; धर्म नीति नहीं है। सबका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, और इसी व्यक्तित्व के कारण प्रत्येक एक निश्चित और स्वतंत्र वस्तु है।

मनुष्यके मर जानेपर उसकी व्यक्तिगत परम्परा छिन्न होजाती है—मृत्यु में उसका व्यक्तिगत जीवन समाप्त हो जाता है। किन्तु एक व्यक्ति की मृत्यु से वंश या परिवार का व्यक्तित्व और उनके जीवन की परम्परा नष्ट नहीं हो जाती। परिवार का व्यक्तित्व वंश-परम्परामें कायम रहता है। जैसे अपने व्यक्तिगत जीवन में एक वृद्ध पुरुष अपनी युवावस्था के, सुख दुःख और नेकी-बदी को अपना समझता है, इसी प्रकार पारिवारिक व्यक्तित्व के कारण हम लोग अपने पूर्वजों के गौरव से गौरवान्वित होते हैं, इसी पारिवारिक व्यक्तित्व की जीवंत-श्रुति-परम्परा के कारण, आज

कमज़ोर होने पर भी मेवार के सिसोदिया-राणा-वंशीय लोग अयाचित सम्मान-लाभ करते हैं—पद्मिनी-प्रतापादि की जीवंत श्रुति ने उस परिवार के व्यक्तित्व को कितना उन्नत बना दिया है !

इसी तरह परिवार के नष्ट होने पर एक जाति नष्ट नहीं होजाती; जातीय व्यक्तित्व में जातीय जीवन-परम्परा चलती ही रहती है। यह ठीक है कि जाति, व्यक्ति और परिवार से निर्मित है, किंतु व्यक्ति के व्यक्तित्व और परिवार के पारिवारिक-जीवन-परम्परा से जातीय जीवन स्वतंत्र है। व्यक्ति-जीवन में जो स्थान क्रिया का और परिवार-जीवन में जो व्यक्ति का होता है, वही स्थान जातीय जीवन में परिवार का है। परिवार और व्यक्तियों की क्रिया से जातीय जीवन प्रकटित होता है; किंतु ऐसा होने पर भी व्यक्ति या परिवार विशेष के नष्ट हो जाने पर जाति का जीवन नष्ट नहीं होता; वरन् व्यक्ति और परिवार तो निर्मम भाव से आत्मत्याग कर जाति के जीवन को और पुष्ट और बलिष्ट बनाते हैं। इससे जातीय जीवन को जानने के लिये हमें जाति के मनुष्यों और परिवारों के सामूहिक-व्यक्तित्व के क्षेत्र में अनुसंधान करना होगा।

'आर्य-जाति'—यह नाम पृथ्वी में बहुत प्राचीन है। हमेशा से वैदिक-ऋषि-संतति और उनके प्रभाव से प्रभावित भारतीय लोग ही इस नाम से पुकारे जाते रहे हैं। अब प्राय: आधी सदी या कुछ अधिक समय से विद्वान् लोग कहने लगे हैं कि भारत के आर्य-लोग जिस जाति के हैं, स्पेन से पूर्व उपद्वीप तक के भूखंड के अधिवासी भी उसी जाति के वंशज हैं। उसके प्रमाण में वे बतलाते हैं—इस समस्त भू-भाग के मनुष्यों की आकृति और अवयवों के अस्थि-संस्थान की परिपाटी एक-रूप है और इनकी भाषाओं के कितने ही नित्य व्यवहार्य

अति आवश्यकीय शब्दों के मूल अभिन्न हैं। वे विद्वान इस भूखंड के लोगों को 'काकेशीय' या आर्य नाम से निर्देश करते हैं। भाषा-विज्ञान-वित् और जाति-तत्त्व-संदिग्धु और ऐतिहासिक पंडितों का यह तर्क और सिद्धांत अभ्रांत हो सकता है, तब भी मस्तक के अस्थि-विधान या भाषा के मूल शब्द टटोलने में ही जातीयता नहीं है। इस समस्त देश के मनुष्यों का आदि-पुरुष एक है और इनमें परस्पर रक्त-सम्पर्क है —इतने ही से उनका जातीय व्यक्तित्व एक है यह नहीं कहा जा सकता। अवयव, आकृति, और भाषा का सामंजस्य तो जाति का जड़-पिंड मात्र है; जीवन का आदर्श और उसकी परम्परा उसमें सर्वत्र और सर्वांगिभाव से बँध कर नहीं रह सकते। एक जीवित वृक्ष की शाखा या पत्ते खाद के रूप में दूसरे वृक्ष की अंग वृद्धि कर सकते हैं- उसके जीवन में अपनी शक्ति मिला दे सकते हैं—विद्वान् लोगों के लिये विज्ञान के बल से यह जान लेना अशक्य नहीं, किन्तु, मूल वृक्ष से एक बार संबन्ध टूट जाने पर उसकी शाखा या पत्ते फिर मूलवृक्ष के अंश रूप में ग्रहण नहीं किये जा सकते, और न वह वृक्ष ही मूलवृक्ष के साथ एक हो सकता है जो उन शाखा या पत्तों से पुष्टि पाता है। जो बात वृक्ष के लिये है वही जाति के जीवन में भी है। भौतिक विग्रह या जड़-पिंड जीवन नहीं है। केवल रक्त-सम्पर्क वंश-परम्परा नहीं है; और पितृ-पुरुष एक हो तो सदा ही जातीय-जीवन एक होगा—इसकी कोई वजह नहीं है।

जीवन एक क्रम-वर्द्धन-शील-नीति या नियम है। चारों ओर से हमेशा कितनी ही शक्तियां सम्पर्क, संसर्ग, साहचर्य के द्वारा इस क्रम-वर्द्धन को बढ़ाती रहती हैं। जीवन-परम्परा में प्रत्येक अवस्था के प्रभाव

और उपादान से अगली अवस्था का गठन होता है। आज हम जो कुछ है वह केवल हमारी कल-आज की क्रिया का फल नहीं है। शैशव से आज तक कितनी ही अवस्थाएं बीती हैं। आज की वर्तमान अवस्था में उन पहिली सब अवस्थाओं के संस्कार और फल गर्भित हैं। कितने ही उपदेश, कितनी ही ताड़ना, कितने ही लक्षित-अलक्षित संसर्ग, कितनी ही आत्मचिंता, कितने ही अभ्यास हम लोगों के जीवन के गढ़ने में काम आए हैं। उन सब की गणना कौन करेगा? आज हम यदि बिलकुल अन्य-भावसे भावान्वित होकर, अन्य समाज का आश्रय लेकर, अन्य धर्म अंगीकार कर, अन्य देशमें वास कर अपने जीवन के उस समस्त फल को, अनादर और अनास्था से, भूल जाँय और कुछ बरस के बाद भिन्न प्रभाव, भिन्न जाति के मनुष्य में परिणत हो जाँय तो मानना चाहिये कि हमारी व्यक्तित्व-परम्परा छिन्न हो गई—वस्तुतः हम अन्य व्यक्ति में परिणत हो गये।

व्यक्ति का जीवन अल्प-स्थायी है। अतः उसमें ऐसा व्यक्तित्व भेद साधारणतः संभव नहीं होता। हां, जातीय जीवन में ऐसे भेद पहिचानने के लिये कुछ आयास की आवश्यकता नहीं। एक जाति के लोगों में देश-विशेष के जलवायु, वेष्टनी, और प्रभाव में ही बहुत दिन वृद्धि पाने से, उस देश की प्रकृति के अनुसार, उस जाति की एक प्राकृतिक जीवन परम्परा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लेकिन घटना-क्रम से, भिन्न जाति या व्यक्ति-विशेष की शक्तियाँ उसके धर्म में, अपने प्राकृतिक अनुष्ठानों की सब परम्परा को भूल बैठने और सर्वतोभाव से नूतन प्रभाव से प्रभावित हो जाने से, उस जाति का जातीय जीवन भिन्न रूप धारण कर लेता है। पृथ्वी में बहुतेरी जातियों के जीवन, समय २ पर इस प्रकार वैदेशिक और भिन्न धर्म आदि के प्रभाव से अन्य-रूप हो चुके

हैं उनके जातीय-जीवन की परम्परा अब शेष नहीं रह गई है। किंतु आर्य जीवन का प्राकृतिक वर्द्धन, भारत के एक ही आदर्श में चिर-नियत रहा है और उसी में विकास पाता रहा है। भारत-प्रकृति में कालक्रम से और स्वाभाविक विकास के अनुसार जो समाज, सभ्यता, रुचि, धर्म, अनुष्ठान—एक शब्द में जो जातीयता—गठित हुई, उसकी मूलनीति और उसका आदर्श आदि काल से आज तक अनवच्छिन्न, और कर्मधारा में उसी तरह अपरिवर्तित रहे हैं। भारत में जो सनातन आर्य-आदर्श हैं, वह उन में नहीं है जिन्हें विद्वान लोग 'आर्य' बतलाते हैं। उनके जातीय व्यक्तित्व ने वैदेशिक प्रभाव के कारण बिलकुल और ही रूप धारण कर लिया है। यह कहने से किसी देश या जाति की सभ्यता के प्रति अनास्था या अनादर की मंशा नहीं है। किसी को पुरातन या नूतन कहने से आस्था या आदर को कम-अधिक मान लेना भी ठीक नहीं। कहने का भाव तो केवल यह है कि मौलिक आर्य-सभ्यता को सिर्फ भारत में ही खोजना ठीक है—अन्यत्र वह न मिलेगी। अन्य देश की सभ्यता का आदर्श और उसकी गति तो बार २ बदल चुकी है—और भारत में ऐसा नहीं हुआ है।

इतिहास से जाना जाता है कि पृथ्वी से बहुतेरी प्राचीन जातियां लुप्त हो गईं। मिस्र, फिनीशिया, बेबिलोन, ऐसीरिया, चेल्डिया, कार्थेज, बैक्ट्रिया, पल्लव, पारश और अमरीका का पीरु और मेक्सिको—इनकी प्राचीन सभ्यताएं बहुत उन्नत थीं, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। इन देशों की सभ्यता और उनके व्यक्तित्व ने किसी दिन मानव जाति की सामूहिक दीप्ति और विकाश में यथेष्ठ सहायता पहुंचाई थी। लेकिन आज उनकी प्राचीन सभ्यता का चिन्ह भी नहीं है! कहीं २ तो उन

सब देशों और जातियों के नाम-धाम तक के लिये ऐतिहासिक अनुसंधान की आवश्यकता होती है! विद्वान लोग वहांके गिरजा सेतु, मन्दिर, कब्र, मुद्रा, शासन, शिलालिपि आदि की खोज और आलोचना करके उनकी प्राचीन सभ्यता का तथ्य निकालते हैं। उन देशों की भूमि आज भी वही और वैसी है, प्रकृति भी बहुत-कुछ उसी तरह उन्मुक्त रही है, किन्तु उस पुराने गौरव और अतीत जातीयता को गर्व के साथ अपनाने वाला उस देश में आज कोई नहीं हैं। उन देशों के अधिवासी परम्परा से उस जातीय वैभव को नहीं अपनाते; किंवदंती और कथा-परम्परा द्वारा जातीय श्रुति पुरुषानुक्रम से अक्षुण्ण भाव से वहां प्रचारित नहीं होती। आज उस पुराण विशाल जातीयता की श्रुति उन सब देशों में किंवदंती-रूप में भी नहीं सुन पड़ती।

पुराने मिश्र के लोगों ने अपने राजाओं की कब्रों पर जो विराट् शिला-स्तूप (Pyramids) बनाए हैं वह आज भी सभ्य से सभ्य आदमी के दिल में अचम्भा उत्पन्न करते हैं। उन्हों ने पशु पक्षियों के शवों को किस २ प्रकार किस मसाले में रखा, कि वह आज भी, हजारों वर्ष बाद उसी अविकल रूप में मौजूद हैं! किंतु आधुनिक मिश्रवासी अपने पूर्व कला-कौशल के कारनामों को याद रखना तो दूर उसके इतिहास की कथा भी भूल बैठे हैं। प्रायः एक सहस्र वर्ष पहिले मिश्र वासी मुसल्मानों द्वारा जीते जाकर मुसल्मान धर्म में दीक्षित होगए थे। उसी समय से उन लोगों के जातीय जीवन की परम्परा छिन्न हो गई, वे लोग बिलकुल मुहम्मदी आदर्श में रंगे गए। आज मिस्र की जातीयता बहुत चढ़-बढ़ सकती है, लेकिन उस उन्नति में प्राचीन मिश्र की परम्परा है, यह नहीं कहा जा सकता।

समस्त योरोप की अवस्था भी यही है। एक समय था जब प्राचीन ग्रीस के आदर्श से यह समस्त भूखंड व्याप्त था। किंतु आज योरूप में वह आदर्श नहीं है। यीशु धर्म के व्यापक प्लावन में साक्रटीज़ प्लेटो, अरिस्टॉटल आदि प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के समय का जातीय आदर्श. यूरोप मे अंतर्हित हो गया। प्राचीन स्पार्टा के उस सरल जीवन, एथेंस का उस महत्व और मौलिकता, प्लेटो के प्रचारित राज्यतंत्र और शिक्षाविधान के उस अलौकिक आदर्श-आदि से गठित योरोप का जातीय जीवन अब परम्परा में जीवित नहीं है। नव-धर्म-दीक्षा के फलस्वरूप भाव विपर्यय गोथवेंडल आदि जीतने वाली जातियों के प्रभाव और शेषतः यूटनों की नव जातीय दीप्ति ने योरोप की प्राचीन सभ्यता को परम्परः ने विनष्ट कर दिया। जीवन का वह प्राकृतिक विकास वर्द्धिष्णु भाव से आज योरोप के जातीय आदर्श को प्रभावित नहीं करता।

कल्पना कीजिये एक जगह एक पेड़ उगा। उसपेड़ ने उस भूमि से रस खींच कर, उसी जल वायु में बढ़ कर, उसी भूमि की प्राकृतिक सुविधा-असुविधा में रह कर अपना जीवन रक्खा। किसी आदमी के मतलब-बेमतलब उस वृक्ष को नष्ट कर, उसी स्थान पर उसी अन्न-जल वायु में किसी और वृक्ष की पौध या क़लम लगा देने से वहां एक नया वृक्ष हो जाता है। वह नया वृक्ष हृष्ट पुष्ट होकर बढ़ सकता है, लेकिन वह उस भूमि का स्वाभाविक वृक्ष नहीं है। उस नूतन वृक्ष में स्वाभाविक वृक्ष की प्रकृति और प्राचीनता नहीं है। देश-विशेष की सभ्यता को भी इसी तरह एक वृक्ष के मानिंद कल्पना कर लीजिये। नवीन वृक्ष की तरह पृथ्वी के अन्यान्य देशों की सभ्यता बहुत उन्नत हो सकती है, किन्तु वह नवरोपित सभ्यता उन देशों की मौलिक सभ्यता नहीं है। आर्य सभ्यता

की प्रकृति, उसका आदर्श और विकास, आज यूरोप और फ़ारिस में नहीं मिलेगा। उन सब देशों में यदि कभी आर्य सभ्यता थी भी तो आज नहीं है। वहाँ अब नव-सभ्यता का वृक्ष फल रहा है।

किन्तु भारतकी सभ्यता का निकास भारत में और विकास भी भारत में है। भारत वासी हमेशा एक जातिय आदर्श से जीवन विताते हैं। कालचक्र के कारण, घटना-प्रभाव से, भारत का धर्म और समाज नाना शाखाओं में विभक्त हो गया है, सही, लेकिन वे सब सनातन आर्यधर्म और वेद प्रचारित आर्यनीति के भिन्न २ विभाव-विकाश के फल ही हैं। शंकर, रामानुज, चैतन्य आदि कितने ही मनीषियों ने इस भारत भूमि में धर्म प्रचार किया, संप्रदाय गठन किया, किन्तु सब ने ही वेद के तत्व की भिन्न २ भाव से व्याख्या मात्र की। उनके धर्म मतों में परस्पर विरोध नहीं है। भारत के धर्म संप्रदायों में स्थायी विद्वेष या रक्तपात कभी नहीं देखा गया। अनंत शाखा-प्रशाखाओं में परिणत होकर आर्य धर्म सार्वजनिक और सर्ववाद-सम्मत हुआ। पृथ्वी के प्रचारित सब धर्मों की नीति नाना-भाव से सनातन आर्य धर्म की अंगीभूत बन गई। आर्य के ईश्वर कहते हैं—

"ये यथा मां प्रपंद्यते, तां तथैव भजाम्यहम्।
सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज॥"

—अर्थात् "जो जिस तरह मेरी उपासना करेगा मैं उसे उसी तरह मिलूंगा—सब धर्मों को छोड़ कर बस मेरी शरण लो।"

आर्य समाज ने भी उसी तरह, युग-युग में, नाना परिवर्तनों का भोग किया। नाना प्रभावों से प्रभावित होकर, संकोच से आत्म-रक्षा

करते २ समाज में कितने ही विकार भी आ गये। लेकिन उन समस्त भावों और विकारों में सनातन मौलिक आर्य नीति अब भी स्पष्ट है। अब भी आर्य का विश्वास है कि समाज की जातियां आदि युग से उसी परमात्मा विश्व-रूपी विराट पुरुष के शरीर से पैदा हुई है। आज भी आर्य संतान वेद स्मरण कर कहते हैं:—

"ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहूराजन्यःकृतः।
उरुस्तदस्य यैद्ददयः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥"

अर्थात् "ब्राह्मण उस विराट पुरुष के मुख-स्वरूप है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उरु और शूद्र उसके पांव से पैदा है।"

भारत विदेशी मनुष्यों द्वारा बार २ जीता गया, और फलतः उसकी राजनीति बार २ बहुत से बाह्य-प्रभावों से प्रभावित हुई। घटना क्रम से भारत की राजनीति कितने ही परिवर्तनों में से गुजरी—सही, किंतु अब भी उस राजनीति को श्रुति-स्मृति, पुराण वर्णित भाव ही जिन्दा बनाते हैं। सब प्रभाव और परिवर्तनों को भेद कर आज भी आर्य स्मरण करता है—

"अष्टानां लोकपालानां, मात्राभिर्निर्मितो नृपः"

अर्थात् "अष्ट लोकपालों के अंश से राजा बना है।" जो देवता लोगों का पालन करते हैं उनके अंश से निर्मित न होने से कोई भी वंश राजपद के उपयुक्त नहीं है। इस लिये आज भी भारतीय राजा का विश्वास है कि उसका राजत्व प्रजारंजन के वास्ते है—अपने भोग-विलास के लिये नहीं। वह इस संसार में—

"चतुर्णां माश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः"

... अर्थात् "सब अवस्थाओं में रहने वाले लोगों की धर्म-कर्म-रक्षा के लिये एक न्यासी (Trustee) है"—इस धर्म रक्षा के लिये ही संसार में उसका राजत्व है।

कालगति से भारत की यह आर्य सभ्यता अनंत शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो गई है। भिन्न २ भाव से आर्य जीवन का क्रम विकास हुआ, समय २ पर बाह्य प्रभाव से आत्म संकोच के कारण विकार भी देखा गया; किंतु समस्त शाखाओं ने, समस्त विभागों ने, यहां तक कि समस्त विकार ने भी आर्य सभ्यता के व्यक्तित्व और जीवन-नीति के विकास में सहायता मात्र दी। किसी भी शाखा या विभागादि से आर्य जीवन का मूल-पिंड या सनातन आदर्श लुप्त नहीं हुआ। कालगति से जीवन अनंत विभाव और आंशिक विकृति से परिपुष्ट और सावयव हुआ। इस समस्त पुष्टि और सब अवयव-विन्यास में भारत की एक जातीय-परम्परा, एक मौलिकता का अभ्युदय एवं एक जातीय-आदर्श का क्रम-विकास दीख पड़ेगा। हज़ारों सालों के अवकाश में जातीय जीवन ने नाना प्रभाव सहे, तौभी उस अनन्य-साधारण मौलिकता के कारण, आज भी भारतीय अपने गोत्र या प्रवर के नाम से अपना परिचय देता है अज्ञात काल के पितृ पुरुषों से अपना सम्बंध स्थापित कर अपने को धन्य मानता है। उसी बलिष्ठ मौलिकता और सनातन जातीय आदर्श से प्राणित हो कर आर्य सन्तान आज भी पितृ-पितामह के तर्पण के अवसर पर कहता है—

"सोमपाः पितरस्तृप्यंताम्।"
"बर्हिषदः पितरस्तृप्यंताम्॥"

"अग्निष्वंता: पितर: तृप्यंताम् ।"

अर्थात् "सोमपीने वाले पितृ लोग तृप्त हों, अग्नि उपासक पितृ लोग तृप्त हों. यज्ञ होम करने वाले पितृ लोग तृप्त हों।" वैदिक और प्राग्वैदिक युग की इसी आदिम श्रुति और आर्य जीवन की इसी महीयान् परम्परा ने भारत में आर्य के सनातनत्व को प्रतिष्ठित रखा है। भारतीय आज जो हो, उसके प्राण का आल्हादकर विश्वास है कि वही सोमपा, याज्ञिक, अग्नि होता, पितृ पुरुष आज उसका तर्पण जल पाकर, सन्तोष पाते हैं, स्वर्ग से उसे आशीर्वाद देते है एवं उसको देख कर 'मेरा वंशावतंश' यह अनुभव कर, मान करते हैं। पृथ्वी की चाहे और किसी भी आर्य-रक्त-प्रसूत जाति की कथा लो—जीवन की यह प्राचीनता, यह स्वाभाविक विकाश, यह मेरुदंड, यह सनातनत्व उसमें कहां है ?

आर्यका जीवन-विकास सनातन है-अर्थात् यह प्राकृतिक वेष्टनी (en viromments) से नवीन २ उपादान संग्रह कर आदर्श-अनुसरणमें अपने अभाव और आकांक्षा को पूर्ण करता है। प्रति दिन नये विभाव और नूतन अवयव में पुष्ट और वर्द्धित होते रहने पर भी मूल से यह एक है। आर्य धर्म भारत की प्रकृति में ही उत्पन्न एवं भारत में ही अपना आत्मविकास करने से पुष्ट है। इस लिये यह सनातन और मौलिक है। इससे पृथ्वी की सब प्रकार की सभ्यताएं और सब प्रकार के धर्म-मत-वाद काल क्रम से इसके विभाव (aspect) के ढंग पर विकास पाते रहे हैं। जीवन के सामूहिक विकासमें किसी विभाव का यथेच्छाचार नहीं है। पहिले सब जगह जाति का मौलिक और सनातन जीवन विकाश पाता है, फिर उसमें एक परम्परा फूट उठती है। किंतु किसी अन्य व्यक्ति या भावांतर के प्रभाव से उस

परम्परा के छिन्न हो जाने पर-जीवन में सनातनत्व और मौलिकता नहीं रहती। क्योंकि तब जाति ने अपनी आवश्यकता के अनुसार उपादान संग्रह करके आत्म रक्षा नहीं की होती, वह तो अन्य के प्रभाव से आत्म विस्मृत होकर आत्म नाश में पड़ गयी होती है। अब इस विशिष्ट प्रचारित धर्म मतवाद, भाव या नीति के फल स्वरूप जो नवीन जातीयता बनती है वह मौलिक या सनातन नहीं हो सकती। क्योंकि वह जन्म से अब तक प्रकृति की सहज क्रिया में एक नीति और आदर्श का अनुसरण कर स्वाभाविक विकाश के अनुसार नहीं वर्द्धित हुई होती, वरन् वह तो विभाव विशेष के समूह-शक्ति के ऊपर यथेच्छाचार का फल होती है।

भारतीय सभ्यता के ऊपर विदेश का प्रभाव पड़ा है। भारत जीवन ने समय २ पर वैदेशिकों के घोर अत्याचार और उपद्रव सहे हैं। भारत की सम्पत्ति के लोभ से विदेशियों ने इस पर बार २ हमले किये हैं और भारत में अपने धर्म, अपनी सभ्यता का बल पूर्वक प्रचार करने का भी प्रयास किया है, किंतु भारत का मेरुदंड इससे विचलित नहीं हुआ, इतना सब कुछ होने पर भी भारत की सभ्यता की स्वतंत्रता का लोप नहीं हुआ—कहने का तात्पर्य यही है।

दुर्बल और क्षीण-सत्व पुरुष प्रबल और शक्तिमान् व्यक्ति के द्वारा आक्रांत होने पर अभिभूत हो जाता और प्रबल का अनुकरण करने लगता है। नौकर मालिक के दुराचार और अन्याय करते रहने से उसमें कभी २ सहायता देने लगता है। लेकिन सब आदमी संसर्ग के दोष-गुण समान भाव से नहीं ग्रहण करते। कोई तो बिल्कुल बदल जाते हैं, लेकिन जिनका व्यक्तित्व दृढ़ और आदर्श स्थिर है, वह फिर विजित,

भृत्य, संगी, संसर्गी, कुछ भी क्यों न हो, अपना जीवन हमेशा अपने ही ढंग में चलाते हैं, भले बुरे की पहचान कर जो आवश्यक है उसे सीख लेते हैं और उसमें ही उनका जीवन विकसित और वृद्धिंगत होता है। वह अपना व्यक्तित्व खो कर दूसरे के आदर्श को नहीं अपना लेते। 'बालादपि सुभाषितम्' अर्थात् 'बालक से भी अच्छी बात लेलेना' बलिष्ट जीवन का लक्षण है, लेकिन गंगा गये गंगादास और जमना गये जमनादास, वाली हालत बिल्कुल दुर्बल व्यक्तित्व को प्रगट करती है।

भारत में ग्रीक, शक, मुसल्मान और ईसाईयों ने देश को जीतने और अपना धर्म फैलाने की, बहुत चेष्टाएं की। लाखों नर नारियों के सनातन आदर्श को उन्होंने बदल भी दिया। लेकिन भारत का सामूहिक जातीय जीवन इन चेष्टाओं से विनष्ट नहीं हुआ। विदेशियों से कभी २ कुछ आहरण कर भारत ने अपने व्यक्तित्व को पुष्ट अवश्य किया, लेकिन कभी किसी प्रभाव से वह अपने को भुला नहीं बैठा। धर्म प्रचार के लिये विदेशियों ने जुल्म किये, पादरी लोगों ने लोभनीय-चातुर्य फैला कर धोखा दिया, आज भी नवपाश्चात्य सभ्यता की आपाद-मोहन-रूपच्छटा और कृत्रिमता के आशुतृप्तिदायक वैभव अपरिज्ञात भाव से इस जाति के जीवन का आदर्श बदलने के लिये उतारू बैठे हैं। लेकिन इतना सब कुछ होने परभी आर्य का सनातन धर्म और सभ्यता, परम्परा-विधान की अपरिज्ञेय मौलिकता, कर्म-मय जीवन की साधु-स्वाभाविक धर्म निष्ठा और समाज के प्राकृतिक और कर्तव्य-मय प्रतिष्ठान-आदि ने आर्य जीवन को भारत में सदा जागृत रक्खा है और जागृत रखेंगे।

आर्य ने अपना व्यक्तित्व वैदेशिक प्रभाव को नहीं बेच डाला यही उसकी एक विशेषता नहीं है। साथ ही भारतवर्ष में वैदेशिक बहुत कुछ बल प्रयोग

करने पर भी अपना व्यक्तित्व यहां नहीं लास के, बल्कि उल्टे भारत.जातीयता का विशाल सनातन व्यक्तित्व अपने आप ही प्रचारित होकर संसार की सामूहिक सभ्यता को पुष्ट करता रहा- यह भी उसकी विशेषता है। प्रत्यक्षप्रवर्त्तना के बिना भारतसभ्यता पृथ्वी पर जितनी प्रचारित हुई, बल पूर्वक फैलाने की कोशिश किये जाने पर भी और सभ्यता यहां भारत में उतना प्रवेश कर सकी या नहीं; इसमें संदेह है। उन दिनों के मुसलमानों ने खड्ग की धार पर, और ईसाई लोगों ने सदा ही प्रलोभन दिखा कर और नीति कौशल का अवलम्बन कर अपने धर्म का प्रचार किया, किन्तु बौद्धों की साम्यवाद नीति और साधना के बल से निर्वाण प्राप्ति की दीक्षा किस मोहन प्रभाव के कारण डेढ़ शताब्दी में स्पेन से जापान तक और साइबेरिया से सिंहल तक—आधी दुनियां में—व्याप्त हो गई थी, उसका क्या तार्किक लोग अन्दाज़ा लगा सकते हैं? विद्वानों ने स्थिर किया है कि इसी मार्ग से प्राचीन ग्रीक लोगों ने भारत से दर्शन मत प्राप्त किये थे। इसी लिये ग्रीस के अरिस्टोटल (Aristotle) और भारत के सांख्य की सृष्टि-व्याख्या एक प्रकार की हुई। और भी इसी तरह कितने विभाव से कितने प्रकार से, आर्य सभ्यता बौद्ध-धर्म द्वारा प्रचारित हुई—आज कौन बता सकता है?

प्राचीन भारत का धारावाही इतिहास अभी तक नहीं मिला है। किंतु आदिम-युग से भारत की सभ्यता ने पृथ्वी पर सभ्यता के मूल मंत्र का प्रचार किया—इसके बहुत प्रमाण मिलते हैं। अंकगणना की प्रणाली अर्थात् इकाई, दहाई आदि दस गुने विधान से अंक गिनने की रीति पृथ्वी ने भारत से ग्रहण की—यह सर्व-सम्मत है। बीज गणित का तथ्य पहिले भारत से ही आविष्कृत हुआ। यूक्लिड (Euclid) के ज्या

मिति के मूल तत्व सिकन्दर की सेना ने भारत की यज्ञवेदि और मंडल-चिन्यासादि की प्रणाली से ग्रहण किये-इसका भी आभास मिलता है। वैद्यक में भी भारत जगत का आदि शिक्षा-गुरु है। रसायनतत्व भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल में आविष्कृत हो चुका था--ऐसे प्रमाण भी मिले हैं। इसी तरह अनुसंधान से पता चलता है कि भारत की मौलिक -तत्वराशि, युग-युग में, फ़ारिस और अरब के रास्ते यूरुप में फैल गई। प्राचीन काल में अरब फ़ारिस में बहुत प्रकार का लेन-देन व्यवहार था, और इस समस्त प्राच्यराज्य की सभ्यता की प्रकृति प्रायः एक थी। आर्य-जीवन आज भारत में जिस सनातन आदर्श का अनुसरण कर चलता है, समस्त प्राच्य देश में एक समय वही जातीय आदर्श था। इन सब देशों में, जैसा कि प्राचीन ग्रीस में भी, जीवन स्वाभाविक विकाश में बढ़ता था। यीशु, मुहम्मद आदि इसी प्राच्य जाति में उत्पन्न हुए थे, ठीक, लेकिन शंकर चैतन्य की तरह उन्होंने अपने प्रचारित धर्म को जातीय-सनातन-परम्परा की भित्ति पर नहीं स्थापित किया। उन्होंने जाति-पारम्परिक विधि के विरोध में अपने व्यक्तिगत मत का प्रचार करके जाति के सनातन व्यक्तित्व की परम्परा को छिन्न कर दिया। उन्होंने कहा—"प्राचीन परम्परा को छोड़ हमारे प्रचारित सच्चे मार्ग को ग्रहण करो।" किन्तु शंकर चैतन्य आदिने ऐसा नहीं किया। उनका प्रचारित मत जातीय जीवन के विशाल शरीर में एक विभाव का विकाश मात्र है। उनका प्रचारित मत सनातन वेद धर्म से विच्छिन्न नहीं है। उन्होंने वेद वेदान्त की व्याख्या में, और व्याख्या से, ही अपने मत का स्थापन किया है। बाईबिल या कुरान की तरह किसी व्यक्ति मार्ग को अपने वेद रूप में पेश कर उन्होंने जातिको परम्परा से छिन्न नहीं कर डाला।

उनके मत-वाद में जीवन के स्वाभाविक विकास पर जाति का यथेच्छाचार नहीं है ।

बौद्ध धर्म सनातन वेदमत से भिन्न है, इस लिये कोई बाहर से देखकर उसे परम्परा से विच्छिन्न मानने लगते हैं। किन्तु यह बात नहीं है। बौद्ध की साधना, कर्मवाद, पुनर्जन्म आदि ही सनातन धर्म के साथ सम्पर्क रखते हों-सोही नहीं; वरन् उनके पुराण, उपाख्यान, मंत्र, श्रुति-स्मृति, दीक्षा-शिक्षा, आचार्य-परिचार, भिक्षु-श्रमण तितिक्षा राजनीति आदि सब भी आर्य परम्परा के ही चिन्ह हैं। फिर बौद्ध धर्म की महान् सहिष्णुता और साम्यवाद की विशेषता यही है कि उसने अपने को किसी धर्म या परम्परा के विरोध में आत्मप्रतिष्ठित करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। आर्य-जीवन की परम्परा बौद्ध धर्म के भीतर प्रत्यक्ष है। वेद धर्म से इस लिये विच्छिन्न होने पर भी बौद्ध धर्म के हर अवयव अंग आर्य परम्परा में से ही बनाये गए हैं। फिर केवल धर्म-मत की नूतनता से जातीयता की परम्परा छिन्न होजाती हो, सो नहीं। क्रीस्ट, मुसलमान आदि विभिन्न धर्म-मत आर्य-धर्म के विश्वतोमुख शाखा-सम्प्रदाय में शामिल हैं किंतु इससे भारतीय परम्परा नष्ट भ्रष्ट नहीं होती। वरन् यह सोचना अप्राकृतिक नहीं कि प्राच्य मनीषी यीशु और मुहम्मद ने अपने धर्म-मत का आभास आर्य के सार्वजनिक धर्म भंडार से लिया होगा। अवश्य इस क्षेत्र में अनुमान के अतरिक्त और कोई प्रमाण नहीं लेकिन आर्यजीवन के बहुत से विभावों, विशेषतः भारत की तत्वराशि, के द्वारा यूरोप का मत युग-युग में प्रभावित हुआ इसका यथेष्ट प्रमाण है। नवयुग के दार्शनिक गुरु स्पिनोज़ा के दर्शनमत के सम्बन्ध में जो कुछ मालूम हुआ है वह इसका एक उदाहरण मात्र है। उनका दर्शन-मत

बहुत अंश में असम्पूर्ण और अपरिपक्व वेदांत मत के सरीखा मालूम होता है। बहुत काल तक यह एक स्वाधीन मत से निकला हुआ माना जाता रहा। किंतु अब पुरातन-तत्व वेत्ता लोगों ने स्थिर किया है कि स्पिनोज़ा यौवन काल में फ़ारिस आये थे। वहां उनके हाथों उपनिषद् का एक असम्पूर्ण फ़ारसी अनुवाद पड़ गया और उसी के आधार पर उन्होंने अपने दर्शन मत का प्रचार किया। आजका आधुनिक यूरोपीय दर्शन स्पिनोज़ा-दर्शन का विकास मात्र है।

इसी तरह लक्षित-अलक्षित भाव से कला-शिल्प वाणिज्य, उपनिवेश, विधि-व्यवहार, प्रचार-पर्यटन आदि नाना प्रकार से किस मार्ग से किस समय भारत की मौलिक सभ्यता प्रचारित हुई-इसका हिसाब नहीं। ग्रीक विद्वान् मेगास्थनीज, जर्मन मनीषी शुपनहायर और अति आधुनिक मेक्स—मूलर आदि भारत की सभ्यता की आलोचना से विस्मित और आनंदित होते थे—सब जानते हैं। ऐसे विस्मय या आनंद आने से व्यक्ति या जाति का, भाव या आदर्श विशेषके गौरव से प्रभावित और अनुप्राणित होजाना स्वाभाविक है।

इन सब लक्ष-अलक्षित प्रभाव के बावजूद भी आज उन सब देशों में आर्य-जीवनकी परम्परा नहीं है। यदि कभी वहां मौलिक सनातन परम्परा थी भी-तो वह लुप्त हो गई है। प्रत्येक देश में जाति के स्वाभाविक विकास के साथ एक सर्वतोमुखी सहज और मौलिक सनातन परम्परा फूट निकलती है। अब वह आर्य सभ्यता हो या नहीं भी। यदि किसी व्यक्ति के उच्छृंखल मतवाद या किसी बाहरी घोर प्रभाव की तीव्र झंझा उसे ध्वंस न करदे तो वह नष्ट नहीं होती। योशु और मुहम्मद ने अपने स्वतंत्र मतवाद और नूतन आदर्श का अपने २ देश में प्रचार किया। होसकता है कि वह

देश की सनातन परम्परा का ही एक विभाव हो; किन्तु आज इस एक विभाव के कारण जाति के सामूहिक जीवन के प्रभावित हो जानेसे जीवन की प्राचीन परम्परा लुप्तहोगई है। जैसे एक बड़के वृक्ष की शाखा जमकर एक नये वृक्ष को उत्पन्न कर देती है और असली वृक्ष फिर निस्तेज होकर मर जाता है उसी तरह उन देशों की भी सनातन मौलिक परम्परा मर चुकी है, लुप्त होगई है, और उन धर्मों के आदर्शों ने कालक्रम से और देशों में पहुंच कर वहां की भी मौलिकता को खो दिया है। इन व्यक्तिगत आदर्शों के सम्मुख उन सब देशों की परम्परा में स्वयं दृढ़ और स्थिर रहने की शक्ति नहीं थी. फलतः उनका मेरु, दंड टूट गया।

लेकिन असंख्य अत्याचार, प्रलोभन और विजातीय प्रभाव के सम्मुख अपना मेरु-दंड बनाये रखकर भारत का आर्य जीवन अपनी स्वाभाविक दीप्ति फैलाता रहा है। समस्त नूतनता इसके विकास में सहायक ही हुई है; फलतः इस आर्य जीवन का प्राकृतिक वर्द्धन और सनातन अनुष्ठान हमेशा अक्षुण्ण रहा है, यह अनन्य साधारण रीति से पृथ्वी पर ज्योति विकास करके अपने विकाश में व्यक्तित्व के सुविस्तीर्ण प्रभाव को प्रकाशित करता आया है। जीवंत नीति से महीयान आदर्श का अनुसरण कर सनातन परम्परा में जीवित रहकर यह सदा स्थिर रहा है। भिन्न आदर्शों के प्रभाव से युग--युग में यह पुष्ट होता रहा है। इस विश्वतोमुख विकास के फल से भारत का आर्यजीवन एक व्यापक और विश्व-जीवन सभ्यता में, अपने पुष्ट पुराण मस्तक को ऊंचा उठाकर स्वाभाविक जीवन--दीप्ति और विश्व विमोहन जागरण से संसार को उज्वल बनाने के पुण्य अधिकार में प्रतिष्ठित है।

द्वितीय अध्याय

आर्य जीवन का बीज—जीवन संभोग

वन एक आदर्श की नियमित विकास परम्परा है। इस विकास में से हर समय उसके नये २ विभाव फूटते रहते हैं। इन सब विभावों आदर्श की शृंखला रहती है; और पर्यालोचना करने से मालूम होता है कि प्रत्येक नूतन विभाव के मूल में एक २ अभाव रहता है आदर्श तक पहुंचने के समय—पूर्ण होने की इच्छा करते वक्त—अभाव स्वाभाविक है। इस अभाव से ही आकांक्षा होती है; और यह आकांक्षा ही संभोग की इच्छा है। इससे समस्त जीवन को एक संभोग-परम्परा कहा जा सकता है। लेकिन उस सम्भोग के साथ अभाव बराबर ओत-प्रोत रहता है। एक शब्द में, आदर्श है तो अभाव भी है, अभाव न हो तो विकाश असम्भव है। समस्त विकास में आत्म लाभ है एवं यह आत्मलाभ ही सम्भोग है। अतएव अभाव, विकाश, और बीज एवं सम्भोग विभावांतर मात्र है। अभावपूरण की आकांक्षा ही जीवन का लक्षण है। सब जीवन-संग्राम के जड़ में यह ईश्वरीय आकांक्षा

विद्यमान रहती है। सम्भोग के साथ अभाव का यह नित्य सम्बन्ध साधारणतः समझ में नहीं आता। इसने जीवन को एक पहेली बना रक्खा है। विकाश में अभाव होने पर भी अभाव ही विकाश नहीं है केवल अभाव में ही जीवन नहीं ख़त्म होजाता। वरन् इस अभाव की धारणा जम जाने से तो जीवन में विकास और ह्रास होजाता है-कभी कभी विलीन भी होजाता है। कारण कि इसमें आदर्श विकास की धारणा से अभिभूत होजाने के ख़तरे में रहता है। फिर जो जीवन अत्यन्त विकाश-परं है उसके साथ भी इस अभाव की पहेली का तीव्र भाव से जड़ित होनां स्वाभाविक है। बाहर से देखने पर कभी यह अभाव ही दृष्टि में पड़ता है, लेकिन जीवन की गति की आलोचना कर, उसकी श्रीवृद्धि और विकास को लक्ष्य कर, इस अभाव की प्रकृति को समझना होगा। विकास-मय जीवन में अभाव देखने के बजाय उसके स्थान में नित्य संभोग को देखना होगा। सम्भोग की सजीवता में यह अभाव एक आभास मात्र है। संभोग को सरस करने के लिये; विकास को जीवंत बनने के वास्ते, जीवों के आत्मलाभ या आदर्श लाभ की कल्पना में मानो यही अभाव सृष्टि विधान में प्रेरणा की एक भित्ति है। सम्भोग की समग्र सरसता और प्रीति में दार्शनिक इस अभाव को देख सकता है। लेकिन यह कभी सम्भोग का प्रत्यवाय नहीं वरन् उसका प्रमाण है। इसलिये स्थूल दृष्टि से इतिहास का आलोचन करने से दीखता है कि मानों आर्य-जीवन अभाव-मय है। जीवन का अभाव अनुभव ही आर्य का स्थिर भाव है— संसार में उसने जन्म लिया है, वह बढ़ता है, आशा और आकांक्षा से मानव कर्म भी आचरण कर जाता है, किंतु इसमें उसे संतोष या सुख नहीं मिलता। संसार उसे स्थिर सुख की आशा में बांध नहीं सकता।

जीवन के पर-पार की ओर ही हमेशा आर्य की दृष्टि रहती है—भविष्यत् पर वह निर्भर रहता है। मृत्यु में जीवन की समाप्ति नहीं है। जीवन की वृद्धि और विकास के लिये जीवन के साथ मृत्यु का मानो नित्य सम्बंध है। इस समस्त विश्व-संसार और जीवन की समस्त भोग्य वस्तुओं के मध्य में रहकर आर्य-पुत्र मानों सदा स्वप्न देखता है। समस्त दृश्यमान् वास्तव जगत् उसके लिये एक लम्बा स्वप्न है। वास्तव जगत् में वह सत्य नहीं देखता, सत्य को स्वप्न मात्र देखता है। दिवा स्वप्न की भांति वह जो कुछ कल्पना करता है मानों वही आर्य के लिये जीवंत, सरस सत्य है। वही चिर यहाँ स्थिर है उसमें ही पूर्ण संतोष या सुख है। वास्तव उसके लिये स्वप्न है और स्वप्न उसका सत्य है, संभोग में अभाव एवं अभाव की आलोचना में संभोग है। इस तरह आर्यजीवन अनंत प्रहेलिका मय है।

उपनिषद् में यही सत्य प्रतिभात है और वैदिक धर्मों में यही प्रतिपादित और प्रचारित है। वास्तव जगत में जीवन-मरण कुछ नहीं है। जन्तु धान की तरह उगते हैं और धान की ही तरह पकने पर मर जाते हैं। पूर्व काल में कितने ही पूर्व पुरुष स्वर्ग सिधार गये, आगे कितने ही उत्तर-पुरुष-गण जन्म लेंगे और मरेंगे—यह सब क्षण-स्थायी जीवन-—मरण की पहेली स्थिर नहीं है। यह सब देख कर जीवन का चिर सत्य संसार का मूल तत्व खोजना होगा; इस विशाल प्रहेलिका की रीढ़ को ढूढना होगा। यह सब जिसका विकास है, जिस स्थिर वस्तु की स्थिति और लीला में यह सब संभव होता है—उसे पाना होगा। उस वस्तु की धारणा करनी होगी। जीवन-मरण के सदृश सुख-दुःख सदा लगे रहे हैं, संसार में कोई सुख स्थायी नहीं है। दुःख जगत को ग्रास किये हुए है। जो सुख सा प्रतीत होता है वही क्षण मात्र रह कर दुःख के द्वार

खोल देता है। नित्य सुख की खोज में उसी दुःख का प्रतीकार करना होगा। शरीरी का शरीर एक बंध है; दुःख-शोक-जरा-व्याधि-मृत्यु-ग्रस्त यह शरीर-रूप बंध छोड़ना होगा। बंध से मुक्ति पानी होगी। उस मुक्ति का क्या स्वरूप है? वह चिर-सत्य और स्थायी सुख कहां है? क्या है?-मनुष्य आत्मा की इस नित्य-जिज्ञासा के साथ उपनिषद्-तत्त्वराशि का नित्य सम्बन्ध है। वह इस नैसर्गिक ईश्वरीय जिज्ञासा के फल-स्वरूप दर्शन-तत्वराशि का विकाश है।

उपनिषद् के सीधे उत्तराधिकारी बौद्ध भाव इस जिज्ञासा, इस समस्या, से पूर्ण है। किंतु वैदिक दर्शनों की तरह उसमें जीवन के उस पार के-पहेली के अंतराल के-स्थायी सुख का अन्वेषण उस तरह प्रगटित नहीं है। उपनिषदों ने कहा है—संसार में व्यक्ति का दुःख बंध-जनित है, उस बंध से मुक्ति पानी होगी। आत्मा शुद्ध, निरवलम्ब, अविनाशी है—देहबंध में जड़े न रहने से उसके नित्य सुख का प्रत्यवाय नहीं रहता; देहबंध ही असुख, अशांति और असंतोष का हेतु है। उपनिषद् की मुक्ति यह है। लेकिन देह-बंध से विच्छेद, बुद्ध भाव का शेष है यहीं दुःख की निष्पत्ति है; और यह दुःख की निष्पत्ति ही सुख है—यही मुक्ति है। दुःख-नाश के परली-पार विमल विशुद्ध, आत्म-वस्तु का जो विकाश है, इस विषय में बुद्ध नीरव है। उस बारे में मनुष्य को मानो कुछ चिंता करने की जरूरत नहीं। देहबंध ही क्लेश है, जन्म में शरीर बंध अनिवार्य है, कर्म तथा कर्म-परम्परा ही जन्म का कारण है, बस साधना बल से उसी परम्परा को तोड़ देने से निर्वाण होजायगा, अर्थात् जीवन और देह का कोई सम्पर्क नहीं रहेगा—वस्तुतः और जन्म नहीं होगा। ऐसे दुःख से त्राण पागए कि साधना की

निहित होगई। दुःख नाश ही मुक्ति है, उस दुःख नाश के बाद जो कुछ विमल, स्थायी आनंद है उस विषय में और कुछ नहीं कहागया। दुःख नाश के बाद शुद्ध, बुद्ध, संभोग-मय आत्मा का लोभ दिखा कर मनुष्य को साधना-पथ का पथिक बनाने की इच्छा बुद्ध ने नहीं की।

बौद्ध धर्म में जो दुःखनाश की बात कही गई है उस नीति के अनुसार जीवन चलाने से तो, मालूम होता है, संभोगमय जीवन नीरस हो जायगा। उससे जीवन क्रिया में वितृष्णा या रूखापन आजायगा। लेकिन ऐसा नहीं। कर्म की साधना से ही तो बंध से मुक्ति होती है—वितृष्णा तो साधना का और प्रत्याघात है। इसलिये इस कर्मबंध और दुःखनाश के साथ बौद्ध की वास्तविक जीवन-ममता आते अद्भुत भाव से प्रकटित होती है। इस व्यक्तिगत दुःखभाव से जिस तरह बौद्ध धर्म की अनंत साम्य मैत्री और जीवमात्र से दुःख में सहानुभूति है उसी तरह व्यतिरेकी भाव से वास्तव-जीवन के संभोग के साथ बौद्ध की ममता, मनुष्य मात्र के समान जीव मात्र में भी अनुकम्पा-युक्त एकत्व-भाव, एवं जीव मात्र के दुःखापनोदन में विशाल स्पृहा है। जीवन के पर पार के, या प्रहेलिका के अंतराल में के, स्वप्न-राज्य की तृष्णा बौद्ध को नहीं है। इस लिये वह तो सर्वतोभाव से इसी जगत का प्राणी है। इसी क्रिया राशि में उसका आत्मप्रसार और निर्वाण है। जीवन की अवश्यं-भावी वास्तविकता में उसकी साधना है। समस्त जगत को विस्तीर्ण प्राण में आलिंगन करके, क्रिया-परम्परा की व्याख्या करना ही बौद्ध का लक्ष्य है। निर्वाण से पहिले संसार को छोड़ जाने का स्थान कोई नहीं है; अतएव संसार को सब ढंग से रहने योग्य बनाना होगा। साधना-क्षेत्र इस संसार को ही सरस-कर्म-भूमि बना कर उस सरसता या प्रेम से

विस्तीर्ण विश्व को आलिंगन करना होगा। इसमें नीरसता या शुष्कता संभव नहीं है, और वस्तुतः ऐसा हुआ भी नहीं। प्राचीन जगत् में बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही अशोक के समान उदार मनस्वी. कनिष्क के समान तेजस्वी साधक, चंगेज़खान के समान विश्व-विजयी वीर, इतिहास के कीर्ति-स्तंभ रूप में विराजित हैं। बौद्ध प्रभाव का ही परिणाम है कि चीन-जापान जीवन की सरसता से पृथ्वी को मुग्ध करते हैं।

किंतु उपनिषद् और दर्शनों में जन्म-बंध-गत दुःख की बात, एवं बौद्ध-मत में केवल असह्य जन्म-बंध के क्लेश से निर्वाण का प्रयत्न, देख कर युरोप के बहुत से प्राच्य-पुरातन-तत्ववेत्ता विद्वान् कहते हैं कि आर्य लोग जीवन को सर्वदा दुःखमय समझते थे और उस दुःख से व्यक्तिगत भाव से त्राण पाना ही उनकी तमाम साधना का मुख्य लक्ष्य था। अनंत चित्र-जगत् आंखों के सामने से नृत्य करता चला जाता है, क्रिया प्रवाह इन्द्रिय-मुख से प्रवेश करके प्राण में व्याप्त हो जाता है, मधुर मोहन-भारत-प्रकृति संभोग-सामग्री फैलाये बैठी है—किंतु भारतीय आर्य को उन से प्रीति नहीं है, आल्हाद-आमोद नहीं है। उसे तो हर समय दुःख, वितृष्णा और जीवन-संभोग में अरुचि है। उसका केवल लक्ष्य है कि वह कैसे इस जीवन बंध से परित्राण पायेगा? भारत-जगत् में मनुष्य के लिये सदा हाहाकार ही बदा है। कल्पवृक्ष के तले बैठकर भी मानो भारतीय चिर-उपवासी है; जगत् को दुःख दृष्टि से देखने के कारण वास्तव-जगत में सदा उसे अरुचि और अनादर है—जिसे कभी २ सुख माना जाता है मानो उससे ही उसे आतंक है कि कहीं उस सुख में भूल कर क्षणिक-स्पृहा में जीवन-संभोग का आदर करने को वह विचल न जाय। सुख-दुःख दोनों को समान मानना, अर्थात् जो सुख जान पड़ता है उसे

दुःख मानना उसकी साधना है। इस साधना में दुःख-भाव दृढ़ होने से मुक्ति सुगम होगी, ऐसी उसकी धारणा रहती है। उदासीनता उसका लक्ष्य है, उदासीनता की साधना ही उसका जीवन है।

इस हाहाकार-नीति में जीवन की साधना और धर्मभाव कैसे सरस होंगे? जीवन—चिंता में हर समय अनीन्द्रिय की चिंता है, साधना में हर समय एक स्वप्न का मोह है, कल्पित राज्य प्राप्ति की कामना है, जिस जगत् को ईश्वरमय देखना मनुष्य का परम-आदर्श है, वही वास्तव जगत् आर्य के समीप एक भ्रांति है। ईश्वर उसमें कैसे रह सकते हैं? कभी २ उसमें ईश्वर की कल्पना कर लेने से तो वह एक कल्पना का खेलमात्र बन जायेंगे! प्राण की प्राकृतिकता में वह कैसे जड़ित होंगे? फिर यदि यह अप्राकृतिक कल्पना आदर्श बनजायगी तो उसमें सरसता, पुलक, और शांति असम्भव हैं। जिस संसार को छोड़ने में मुक्ति है, उसमें फिर ईश्वर भी किस तरह भर-पूर रह सकते हैं? फलतः आर्य ने गाया है:—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति, नवा गच्छति नो मनः"

अर्थात् "उस परम पदार्थ के पास चक्षु (आदि इन्द्रिय) वाक्य और मन कोई नहीं पहुंच सकते।" इस विचार से सारा जगत् ईश्वर-शून्य, शुष्क और नीरस होजता है, जीवन एक भार और क्रियाराशि वस्तुतः एक प्रहेलिका बनजाती है।

इस तरह की जीवन नीति और धर्म-भाव से मनुष्य के वास्तविक विकास का मंद होजाना स्वाभाविक है। फलतः उसकी सांसारिक उन्नति असम्भव बन जाती है। भारत में यही हो रहा है। उन्नत, युक्ति

युक्त समस्त दर्शनवाद में प्राण की सरसता नहीं है—प्राणों में संभोग-प्रव णता नहीं है। दुःखमय संसार से छूटने के लिये, चिर दुःखमय जीवन से दूर होने के लिये, उसकी साधना है। उस साधना का शुष्क हो रहना स्वाभाविक है। उसी विश्वास और शुष्क साधना में योगी, ऋषि लोग इन्द्रिय का विनाश करके, समस्त बाह्य-ज्ञान-शक्ति का विलोप-साधन कर, समस्त जीवन संभोग से स्वाभाविक रुचि फेर कर, भ्रांतिमय संसार से उद्धार पाने का प्रयत्न करते हैं।

जो यूरोपीय लोग यह मत ज़ाहिर करते हैं वे इस क्षेत्र में उसकी तुलना के लिये प्राचीन ग्रीकों की सभ्यता का उदाहरण देते हैं। ग्रीकों का जीवन संभोग-पूर्ण है; ग्रीस उनकी स्वर्ग भूमि है, देवता लोग उनके सहचर है, भोजन उनके लिये अमृत है, क्रीड़ा उनके लिये तांडव नृत्य है. जीवन के क्रिया-कलाप में आनन्द-उपभोग उनके पक्ष में परम सौभाग्य है। समस्त भोग ईश्वर-प्रदत्त है और सब क्लेश मनुष्यों के लिये परित्यज्य है। देश, जाति, राज्य, धन, स्वाधीनता जातीय-आमोद आदि का विकाश उनके इस जीवन-संभोग की साक्षी देता है। फलतः उन लोगों ने पृथ्वी पर सांसारिक उन्नति का प्रचार किया, एवं उन्हीं लोगों ने देश के लिए प्राण देकर स्वाधीनता का मूल्य बढ़ा दिया। इस वास्तव-जगत को देवताओं से पूर्ण अनुभव कर इस जगत की क्रिया-राशि में ही उन्होंने मुक्ति की खोज की। उनके दर्शन-मत में शून्य या भ्रांतिवाद इतना प्रकटित नहीं है, किंवा ऐहिक जीवन नीरस नहीं है। इसलिए संसार-संभोग के प्रति आस्थावान होने के कारण ही ग्रीक सभ्यता पिछले जमाने में सर्वतोमुखी-वर्द्धिष्णु यूरपीय सभ्यता का प्रचार कर सकी। दूसरी ओर प्राण की नीरसता में शुष्क और संकुचित होकर भ्रांति-मय

जगत में परम-मंगलमय को न पहिचान कर, भारत भ्रांति से भ्रांति तक भटकता रहा; सँभोग और सांसारिकता ने उसका आत्म-विनाश कर दिया; जगत में जिसे भोगना होगा, जिन सब प्राकृतिक क्रियाराशि में जीवन का विकास संपादन करना होगा, उनको अप्राकृतिक प्रहेलिका मान कर स्वप्न-मय अध्यात्म या अध्यात्म-साधन करते २, फलतः, उसने वास्तव जीवन का समस्त सत्व और अधिकार खो दिया और इतिहास के दीर्घ काल में समय समय पर अधिक-संभोग-प्रिय प्रत्यक्ष-विश्वासी अतएव कर्म-तत्पर जातियों द्वारा बार २ विजित और विदलित होता रहा।

वास्तव में आज सांसारिक उन्नति में यूरोप तेजी से बढ़ रहा है, और भारतवर्ष जीवन के उस विषय में कुछ शिथिल सा मालूम होता है। भारत की जीवन-धारणा और ईश्वर-भाव जाहिरा स्वप्न-मय हैं, वह वास्तव जीवन से कुछ विच्छिन्न हो गये से प्रतीत होते हैं। इसने विशेष परीक्षा किये बिना और विचार या घटना के साथ सहानुभूति रक्खे बिन आलोचना करने से भारत में जीवन की शुष्कता और साधना की नीरसता दीखना विचित्र नहीं है।

समालोचना की क्रिया संसार में दो तरह से चलती है। एक निरपेक्ष और दूसरी निरंकुश। पहिले में कारण अनुसंधान कर उससे कार्य का निश्चय किया जाता है; सब कारणों की एक एक (तन्न तन्न) करके अच्छी तरह से परीक्षा कर, उन से कार्य तक पहुंचना होता है। इस तरह से अगर कोई कार्य और कारण के सम्बंध को न निश्चित कर सके तब कार्य को देख कर उसके कारण को अनुमान करके, उसी कारण को निरपेक्ष और निरवलम्ब दृष्टि से घटना-राशि में से

खोजा जाता है। यथा सम्भव अपने को घटना-राशि के मध्य में स्थापित कर अपने अनुभव को उस घटना--जड़ित व्यक्ति या-जाति-विशेष के अनुभव के साथ तोला जाता है। उस में कार्य के कारण के साथ मेल न खाने से समालोचना की गति बहुत संदेह-ग्रस्त होती है। उस जगह समालोचक बहुत सावधानता के साथ केवल संदेह-युक्त मत व्यक्त करता है।

दूसरी ओर समालोचक कार्य को देख कर, हठात् एक कारण अनुमान कर लेता है, एवं घटना-राशि में उसी अनुमित कारण के अनुरूप उपादान संग्रह कर, किंवा घटनाराशि की, उसी लक्ष की दृष्टि से, व्याख्या कर 'इसी कारण से कार्य हुआ' ऐसा अटल सिद्धांत बना देता है। मनुष्य कभी २ समालोचक, और कहीं घटित घटनाराशि के फल के साथ समालोच्य कार्य का अन्वयी या व्यतिरेकी रीति से, तुलना कर, हठात् कारण में पहुंच कर सिद्धांत प्रचार कर देता है। जहां संदेह नहीं वहां सावधानी भी नहीं है। एक क्रिया के अनेक कारण हो सकते हैं, एक रूप कार्य विभिन्न कारणों से प्रकट होता है; ऐसी स्थिति में जो समालोचक एक कारण की कल्पना कर सिद्धांत बना देते है, उनमें कथंचित् साधुता हो सकती है, लेकिन समालोचक का धैर्य किंवा अननुभूत और देशकाल में व्यवहित घटना के साथ सहानुभूति रखने की साधना नहीं होती। प्राय: अपनी बुद्धिमत्ता के अवलेप से विभ्रांत होकर वे लोग मानों समस्त क्रिया-राशि के प्रभाव और परिणति का विश्लेषण बहुत सहज ही मानते हैं।

यह सब कुछ एक अवांतर बात है। भारत की आर्य सभ्यता का विकास किसने किस दृष्टि से देखा यह बताना इस प्रबन्ध में हमें उद्दिष्ट नहीं है। बस इतना ही समक्ष रखना होगा कि अभाव के बिना विकास

नहीं होता। जीवन के सरल संभोग के साथ अभाव की धारणा का चिंता-शील मनुष्यों को आक्रमण करना बिल्कुल स्वाभाविक है। उस अभाव की धारणा को ही लेकर मनुष्य जीवन की साधना में उत्तरोत्तर उन्नति करने में समर्थ होता है। विशाल अभाव के साथ विस्तीर्ण आत्मलाभ प्रकट होता है। अभाव और संभोग दोनों एक वस्तु के ही विभाव हैं, अभाव देख कर संभोग न देखना जैसी एक देश-दर्शिता है, संभोग में अभाव न खोजना भी उसी तरह मन्द दृष्टि को ज़ाहिर करता है।

इसलिए ग्रीस भारत की तुलना के संबंध में यह कह देना पर्याप्त होगा कि भारत में सांसारिकता का अभाव नहीं था, एवं दर्शन-युग के आरम्भ के बाद ग्रीस भी जीवन-प्रहेलिका का स्वप्न देखता था। यूरोपीय लोग जिसे नीरस नीतिवाद कहते हैं, अधिकांश में उसने ही ग्रीक प्राण को प्रभावित कर रक्खा था। जीवन-विकाश संभोग में आरम्भ होता है, अभाव का नीतिवाद उसका एक अपरिहार्य विकास है। फिर इस अभाव नीति से विश्व-प्रीति प्रकाश पाती है, जगत् सरस संभोगमय होता है। यहां ही आत्मलाभ पूर्ण होता है। संभोग के मध्य जैसे अभाव है, उसी तरह नीरस नीतिवाद में भी विशाल संभोग का निदान देखना होगा।

जो लोग भारत-जीवन को नीरस-नीति-वाद-पूर्ण देखते हैं, उनकी भारत की शिक्षा शायद सांग नहीं हुई है। कालिदास की कविता से कोणार्क की कला-कुशलता तक, कौटिल्य की अर्थ-नीति से ढाका के वस्त्र-वैभव तक, कविता, कला, राजनीति, जीवन की क्रिया के नाना विभावों से उदाहरण देकर भारत-जीवन की वास्तविकता और संभोग-प्रवणता, एक २ करके, विशेष भाव से प्रमाण करने का अवकाश यहां नहीं है। वह अनावश्यक भी है। तब इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि भारतमें जब

दर्शन-प्रभावित-जीवन-तत्व चरम सीमा तक पहुंचा हुआ था, उस समय ग्रीस जातीय-शैशव में जीवन का सरल-संभोग ही देखता था। यही मुख्यतः समालोचकों की भ्रांति का कारण है।

होमर-वर्णित समय में ग्रीक जीवन का आरम्भ है। उस समय का अर्वाचीन ग्रीक-जीवन सरलसंभोग-मय है। उस युग के ग्रीक लोग देवताओं के साथ जीवन का उपभोग करते हैं, अपने स्वत्व या स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्राण-प्रण करके शत्रु विमर्दन करते हैं, देवता लोग उसमें योग देते हैं। आज से प्रायः २२०० वर्ष पहले तक ग्रीस की यही अवस्था थी। इसलिये साक्रेटीज़ ने जब पहिले पहिल बताया कि "परमात्मा एक और अखण्ड है, वही एक मात्र देवता है, शरीर के साथ मानव आत्मा का विशेष सम्बन्ध नहीं है, शरीर-विनाश में वह नहीं खतम होता" उस समय यह बात सुन कर संभोग से स्वप्न की गति को देखते हुए भी उसे न समझ कर, ग्रीक राज्य ने साक्रेटीज़ के लिये प्राण-दण्ड विधान किया। स्वप्न-राज्य में विह्वल और अमर--आत्म--भाव से जड़ित रहने के कारण साक्रेटीज़ ने, प्राण-दंड के प्रति तनिक भ्रूक्षेप नहीं किया, और सहज ही घातक के दिये हुए विष को पी लिया।

भारत की तुलना में बहुत पिछड़े होने पर भी ग्रीस में संभोग और स्वप्न का यहां ही संधि-स्थल है, यहीं जाति के एकांत बाल-भाव का किंचित् विकास है। साक्रेटीज़ के पीछे प्लेटो के तत्ववाद में जगत् एक प्रकार मायाजड़ित नहीं है तो क्या है? प्लेटो के शिष्य अरिस्टोटल ने स्वप्न-राज्य में और गहरे पैठ कर निष्क्रिय या निर्विकल्प सांख्यवाद के पुरुष के सदृश नवसृष्टि-तत्व-जड़ित अपने दर्शन मत का प्रचार किया। इस दर्शन-वाद के साथ अरिस्टोटल ने जो वास्तविक जगत् के विभागों में

भी अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखलाया उसे देखकर हो सकता है कि समालोचक उन्हें स्वप्न-पथ का पथिक न मानें। वह शायद कहें कि अरिस्टोटल ने जड़-विज्ञान और राजनीति के सब कठिन नियमों की परीक्षा और प्रचार करके व्यावहारिक जगत् को सत्य माना--भ्रम नहीं माना। बस उनका दर्शनवाद ही अवास्तविक चिन्ता-रज्जु में आवद्ध है,और एक उस दर्शनवाद से ही जीवन क्रिया नीरस नहीं बनगई है।

किंतु अरिस्टोटल के साथ, या कुछ बाद, स्टाइक (Stoic) दार्शनिक लोगों ने जो संयम-क्रिया-परम्परा चलाई उसमें वास्तविक जगत् की सत्ता नहीं है। इस विषय को आसान करने के लिये सिकंदर (Alexander) के जीवन की निम्न गल्प की ओर लक्ष्य किया जा सकता है।

डायोजीनस ग्रीस में एक प्रख्यात-नामा दार्शनिक थे। कहीं मनुष्य की सामाजिक जीवन-क्रिया से कलुषित न हो जाँय, इससे वह लोक-समागम छोड़कर एक निर्जन स्थान में नग्न होकर एक कुण्ड के भीतर पैठ रहते थे। एक दिन सिकंदर उन्हें देखने के लिये कौतुहल से उनके पास आये। पहुंचने पर पूंछने लगे—

"तुम कौन हो ?"

डायोजीनस ने उत्तर न देकर अनमनाते हुए पूंछा—"तुम कौन हो ?"

सिकंदर ने कहा—"मैं महावीर सम्राट् एलेग्ज़ेंडर हूं।"

इस पर-डायोजीनस भी अकड़ कर बोले—"मैं दार्शनिक-वर डायोजीनस हूं।"

विस्मित हो कर सम्राट ने फिर कहा--"अलक्षेन्द्र से क्या कुछ अनुग्रह मांगना चाहते हो ?—मांगो।

दार्शनिक ने कहा—"इतना ही अनुग्रह कीजिये कि तनिक उस ओर हो जाइये और मेरी धूप छोड़ दीजिये।"

सिकंदर विस्मय और शोक से वापिस चले आए। यह सिर्फ एक उदाहरण है। यही दर्शमत और तदनुरूप जीवन-क्रिया बहुत शताब्दियों तक यूरप और अफ्रीका के ग्रीक-प्रभावित-देशों में व्याप्त थी। भारत के शुद्ध दर्शनभाव-प्रभावित साधक-जीवन के साथ इस जीवन की तुलना करने से क्या दीखता है ? राम ने अरण्य में जिस ऋषि को सुदीर्घ जीवन को अल्प और अकिंचित्कर जानकर घर न बनाके जीवन भर मस्तक पर बड़ के पत्ते रखे हुए देखा था उसके जीवन में अधिक नीरसता और संभोग हीनता क्या थी ? वरन् यह कहा जा सकता है कि स्वप्न-राज्य-वासी भारतीय जीवन के स्वप्न में सत्य का दर्शन करते थे, सत्य-स्वप्न के सम्मिश्रण इस जगत् को सरस और सरल-संभोगमय मानते थे, एवं सरल जीवन में ही तृप्ति पाते थे। इस लिये यह स्थायी रहा। ग्रीस का स्वप्न-राज्य पिछले यूरोप की जीवन-क्रिया में वैसा स्थान नहीं पा सका। यूरोपवासी सत्य-स्वप्न के सम्मिश्रण में चित्र-जगत् को सरस संभोगमय नहीं बना सका। जीवन की साधारण स्थिति के लिये जीवन-संग्राम में अति व्यस्त रहने से, वास्तविकता ही ने उन लोगों को ग्रस्त कर लिया। वास्तव के लिये अवास्तव-स्वप्न की शुद्ध सरसता उनके जीवन-संग्राम-जनित कर्म-कठोर-जीवन में प्रविष्ट नहीं हो सकी। किंतु यूरोप के जीवन-संग्राम की

कठोर कर्कशता और भारत में उसके आपेक्षिक अभाव पर, एवं उन सब के नतीजे पर, यहां आलोचना नहीं करना है। संभोग प्राणी की नैसर्गिक वृत्ति है। संभोग के बिना स्थिति असम्भव है। संभोग में ही वास्तव जगत् के साथ मानव का सम्बंध है। इस संभोग में ही वास्तव जगत् का मानव-प्राण में प्रकाश होता है। संभोग प्राण में अनुभूति का बीज है। यह संभोग वास्तव जगत् में सत्य है। अनंत वास्तव घटना-राशि विश्व-सत्ता-विश्व देवता—का विग्रह है; अनुभूति के अनंत वितान में मानव-प्राण में उस विश्व-सत्ता का विकाश है, और संभोग के बिना वह अनुभूति असंभव है। स्वप्न हो या सत्य—वास्तव जगत् की क्रिया-राशि के मध्य में से ही जीवन की गति है। उस क्रिया-राशि का छोडना प्राणी के लिये असाध्य है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट आभास दिया है—

"शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धेदकर्मणः"

अर्थात्—"कर्म, या वास्तविक जगत् के साथ सम्पर्क, के बिना शरीरी की शरीर-यात्रा नहीं चलेगी।"

जीवन की क्रिया-राशि में विश्वसत्ता की अनुभूति के बिना कोई भी शरीर-यात्रा का कर्म सम्भव नहीं होता। शिशु जब भूमिस्थ होकर अवयवादि की लीला प्रकाश करता है, उस समय वह स्वप्न-सत्य का भेद नहीं समझता। सत्य उसके लिये स्वप्न और स्वप्न ही सत्य है-सब एकाकार है; सब ही मानो एक विश्व-व्यापक शक्ति का एक २ विभाव विकाश है। विश्व-प्रकृति भी उसकी शरीर-क्रिया से भिन्न नहीं है। अपनी ही क्रन्दन-ध्वनि से वह चौंक उठता है, सूर्य देख कर मुग्ध होता है, शब्द सुन कर विस्मृत होता है—सब इन्द्रियों के मार्ग से वह अपने शिशु-

प्राण के साथ विश्वात्मा का सम्बंध जोड़ लेता है। उस समय वह अनंत लीलामय की लीला का एक खिलौना है। सर्वत्र सत्ता का अनुभव है; सर्वत्र विस्मय, सर्वत्र संभोग और फिर सर्वत्र आत्म विस्मृति या स्वप्न है। यह स्वप्न, यह सम्भोग है क्या चीज़। यह तो उसने नहीं जाना; लेकिन अनुभूति उसके नन्हे से शिशु-प्राण को भेद कर उछल उठती है। अनंत विश्व-सत्ता में वह अपने को मिला देता है। अनुभूति का अनंतत्व उसकी आत्मा को भेद कर विस्तीर्ण होजाता है। इस क्रियाराशि के संभोग के अनुभव में वह फिर क्रमशः अपने को जगत् से अलग मानने लगता है, एवं इसमें ही उसका आत्म-विकास होता है।

यह सच है कि अनुभूति क्रिया-विशेष से जागृत होती है, किंतु क्रिया के साथ कार्य-कारण सम्बंध लगा कर इसका परिमाण करना असंभव है। प्राण में यह तो एक इंगित या संकेत है, यह सर्वदा अनंत है, आत्मा में समा कर सदा अनंत की ओर चली जाती है। प्राण को वास्तव सत्य से अवास्तव-स्वप्न की ओर लेजानाही इसकी प्रकृति है। अनंत आत्मा इससे पूरित हो जाती है। यह पूर्णता फिर विश्व-सत्ता में व्याप्त हो कर आत्म-विस्मृति और विह्वलता को जन्म देती है। इस पूर्णता को समझा कर कहना आसान नहीं है, किंतु यही अनुभूति की प्रकृति है। अनुभूति की सीमा नहीं, उस में कार्य-कारण गणना नहीं। न उसमें शिशु-वृद्ध का ही भेद है। उस में विह्वल होने से प्रवीण भी मुहूर्त के लिये शिशु हो जाता है। इस लिये, उस में ही वास्तव स्वप्न होता है और स्वप्न वास्तव होता है।

जाति-विशेष के हिसाब से विचार करने से, प्राथमिक अवस्था में जाति मानो शिशु है। उसका समस्त अनुभव वास्तविक-क्रिया-परम्परा

का अनवच्छिन्न संभोग है। यह अनुभव, फिर, शिशु के अनुभव की तरह अनंत और निरवकाश है। प्रवीण का अनुभव, चिंता से अवच्छिन्न, विगत-अनुभव और फलाफल की स्मृति से आविल, और कभी २ भविष्यत् की आशा और आकांक्षा से भी प्रतिहत होता है। शिशु के अनुभव में यह अवच्छेद, यह आविलता नहीं। वह तो एक साथ समस्त विश्वसत्ता का अज्ञात विकास है। वह प्रचुर, शुद्ध और अनंत है। होमर के समय के ग्रीक लोग बहुत कुछ इसी शिशु-अनुभव से प्राणित और प्रणोदित थे, और उपनिषद् और दर्शन-तत्व-विचार के बहुत पहिले भारतीय आर्य इसी शैशव अनुभूति-से सरल-शिशु-कंठ को खोल कर अपौरुषेय वेद का प्रकाश कर चुके थे। अनंत विश्व के सम्भोग-अनुभव में विश्व-सत्ता के जिस विकास ने उनके प्राण को प्लावित किया था, वही आदि-वेद-गान-रूप में स्वतः फूट निकला। यहीं, इस शैशवीय भाव में ही, आर्य-जीवन का बीज निहित है। इसके ही विकास में आर्य सभ्यता का विकास है। यह अपौरुषेय वेद-भाव ही आर्य का आदि-भाव, उसका धर्म और उसका आदर्श है। यह विश्व-सत्ता, या परमात्मा का स्वभाव-विकास है। मनुष्य जब शुद्ध, अनाविल अनुभूति की अनंत लीला में विश्वात्मा के साथ एक हो जाता है, उस समय ही वेद-विस्फूरण होता है। शिशु की पूर्व-जन्म-संस्कार-जात वृत्ति के सदृश ही आदि ऋषियों की आदिम अनुभव-लीला का उद्भेद है। वह अनुभूति वास्तव हो या स्वप्न--वह सत्य है; उस में अपलाप नहीं है, संशय नहीं है; वह दार्शनिक का बुद्धि कौशल या मतवाद नहीं है। इस लिये ऋषि ने गाया है—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वा गच्छति नो मन"

अर्थात् "उस जगह को बाह्य-इन्द्रिय-ज्ञान, या वाक्य स्पर्श नहीं कर सकते" विश्लेषण से वह समझ में नहीं आसकता, किंबा वाक्य से भी नहीं

वर्णित किया जा सकता। यह भाव किसी जाति में पहले प्रकाशित होगया; किसी के, मानो मातृगर्भ का समय दीर्घ रहने से, यह शिशु-भाव तनिक पीछे प्रकाश में आया; और कुछ के तो शायद अब तक भी नहीं प्रकाशित हो पाया है यानी उनमें अभी वह शैशव भी आरम्भ नहीं हुआ है। पहिले हो या पीछे, यह भाव मानव-जाति का स्वाभाविक भाव है। इसमें संभोग का अभाव या नीरसता नहीं है। कभी, किसी २ जाति में, प्रवीणता की सांसारिक समझ, अनुकरण-प्रवणता या अनुचित दासत्व की वजह से इस आदिम बाल-भाव के स्वाधीन विकाश प्रभाव का अवछिन्न हो रहना असंभव नहीं। जीवन का विकास हर कहीं प्राकृतिक और सरल मार्ग का ही अनुकरण नही करता। जीवन के विकास की गति नाना ही प्रभाव से प्रभावित होती एवं कभी २ प्रभावांतर से बिल्कुल बदल भी जाती है। भारत में आर्य के संबंध में, लेकिन, ऐसा नहीं हुआ। वेद की सनातन-परम्परा आर्य-जीवन में अवछिन्न नहीं हुई। बल्कि पृथ्वी पर यदि और किसी जाति का इस शैशव-अनुभूति का स्वाभाविक विकास-स्रोत अनवछिन्न है भी, तो उतना नहीं जितना कि वैदिक आर्य संतान का है। कारण कि पृथ्वी पर और किसी जाति की आदिम-अनुभूति परम्परा इतनी स्पष्ट प्रकटित नहीं है। विजातीय और विदेशागत आदर्श उन्हें अधिकतर प्रभावित किये हुए हैं। वे लोग विदेशागत आदर्श के महाप्रान भाव से स्तंभित और आत्मविस्मृत हो गए हैं।

ऋग्वेद संहिता देखने से मालुम होता है सरस और सरल जीवन-संभोग के अतिरिक्त उसमें और कुछ है ही नहीं। उसमें बंध-दुःख से विमुखता नहीं है, या अतीन्द्रिय का दार्शनिक स्वप्न नहीं है। सरल शिशु की नाईं मनुष्य, विश्व-सामग्री के अनुभव में ही पुण्य-प्राण का

प्रकाश करता है, एवं साथ ही अनुभूति के प्रसार से अनन्त विश्व-सत्ता का इंगित अनुभव करता है। मंत्र उद्धरण करके प्रबंध बढ़ाने का प्रयोजन नहीं है। ऋषि शुद्ध अनुभूति के विस्मय में गाते हैं—

"हमारे शत्रु नष्ट हों, मित्र लोग सदा जीवित रहें। हे इन्द्र, तुम अपनी महा वदान्यता को विस्तार करके हमें गौ, घोड़े, धन-रत्न आदि से भरपूर करदो।"

"हम लोगों के सब क्लेश दूर करो और जो हमारा अनिष्ट करते हैं उनका विनाश करो।"

"हे ऊषादेवि, देवतालोगों को इस सोम पान के लिये बुला लाओ हम को बल दो, युद्ध में विजयी करो। हम लोग प्रशंसित हों।

"हे इन्द्र, हमारा दारिद्र्य दूर करो। दस्युओं का नाश करो। सोमपान से हमलोग फिर बलशाली हों, शत्रु से मुक्ति पाकर प्रचुर खाद्य-पेय पावें।

"हे मरुत् हमें बहुत बल दो। हम लोग युद्ध में अजेय हों। जय लाभ करके यशस्वी हों और शतायु पुत्र-पौत्रादि लाभ करें।•

"हमें स्थायी सम्पत्ति दो, बहुत से वीर दो जो शत्रु को व्यनिवम्न कर डालें। उनकी (उन वीरों की) संख्या शत-शत, सहस्र-सहस्र हो और वह संख्या बराबर बढ़ती रहे।

"हे देवता लोग, १०० वर्षों की हमारी परमायु है, इन १०० वर्षों के अंत में हमें बढ़ोतरी दो। हम लोग बच्चों के पुत्र पौत्रादि देखें, जीवन के बीच में ही हमारा जीवन समाप्त न हो।

"हे वीर, हम लोगों के इस युद्ध में अपना समस्त रण-कौशल प्रकाश करो। देवहीन शत्रु लोग बहुत घमंड दिखाते हैं, उन्हें मार कर वे जो हम से सम्पत्ति ले गये है वह हमें फिर लौटवा दो।

"हम लोग सब तरह से धन के अधिकारी हों; वीरत्व से भूषित हो कर प्रशंसनीय काम के लिये सदा प्रस्तुत रहें।

"अविश्वासी लोग (देवताओं में) हम लोगों पर सशस्त्र सेना लेकर आक्रमण करते हैं—हम लोग उन्हें परास्त करें।"

इस प्रकार की प्रार्थनाओं और कामनाओं से वेद भर-पूर है। ये सब जीवन की सरसता और सम्भोग का स्पष्ट प्रकाश करती हैं। इसमें वास्तविक जगत् या जीवन के प्रति विमुखता नहीं हो सकती; वरन् यहां तो वास्तविक जगत् की क्रियाराशि में आदि जीवन का विकास-लक्षण स्पष्ट है। जाति के इस आदिम अनुभव में सत्य का प्रकाश है। जीवन यहां सत्य-स्वप्न नहीं है; वास्तव जगत् भोग्य, सम्भोग-पूर्ण माया या प्रहेलिका नहीं है। वरन् कहा जा सकता है कि जाति इस आदिम अनंत-अनुभव के अज्ञात प्रकाश में, बाहरी आलोचना दृष्टि से देखने से तो सब स्वप्न, सब पहेली है; किंतु अनुभवी के समीप सब वास्तव—सब सत्य है।

बादल हो आये; वर्षा हुई; वज्र-निनाद सुन पड़ा—वैदिक मानव-शिशु चकित और स्तंभित है। सूर्य-किरण से पृथ्वी जगमगा उठी—वैदिक ऋषि प्रेम से विह्वल है। हवा बहने लगी, पत्ते मरमराने लगे, वृक्ष गिर पड़ा—आर्य शिशु मुग्ध और विस्मित है। यह सब क्या है?—कौनसी शक्ति है?—यहां ही शक्ति में पुरुष की अनुभूति है। मैं जैसे हाथ-पैर चला कर काम करता हूं उसी तरह यह सब क्रिया भी किसी महाशक्तिमय पुरुष का कर्म है। यह सब एक एक महाशक्ति है; या शायद एक महाशक्ति के ये सब विभिन्न विकाश है। यहां इस

जीवन के शुद्ध सम्भोग के भीतर, उपलब्धि की अनन्त लीला के गोद में, देवता की कल्पना है। कभी वे देवता लोग इन्द्र, अग्नि, मरुत्, वरुण, उषा हैं; फिर कभी जो इन्द्र है वही अग्नि है, वही मरुत् है, आदि; फिर कभी इन्द्र में, अग्नि में, मरुत् में सर्वत्र क्या एक महाशक्ति है—वैदिक शिशु की इस सरल अज्ञात कल्पना के बीच में विश्व-सत्ता का इंगित वेद में दीखता है, ऋषि के सरल-प्राण की आदि, मौलिक अनुभूति में विश्वात्मा विकास पाते हैं। ऋषि कभी इन्द्र, अग्नि आदि को स्वतंत्र देवता मानकर उपासना करते हैं। कभी कहते हैं—"हे इन्द्र तुम ही अग्नि, तुमही मरुत्...आदि हो, फिर कभी कहते हैं—"हे, एकपुरुष, तुमही इन्द्र-अग्नि के रूप में प्रकाश पाते हो।"

इस प्रकार विश्वसत्ता का अपौरुषेय आदि-विकास किसी का बुद्धि-क्रीड़न नहीं है, तत्व का विश्लेषण नहीं है। यह सत्य, वास्तव जगत् में अनुभूत और संभोग के मध्य प्रकटित है। मनुष्य के अंदर एक शक्ति है—विश्वजगत् में यही शक्ति है। इसी शक्ति के संभोग-जनित आघात-प्रतिघात में व्यक्तित्व का विकास है। व्यक्ति-अनुभूति में इसी शक्ति की स्थिति-लीला है। समस्त विश्वक्रिया मानों एक महा-शक्ति की लीला-भूमि है। इस में नीरस आदर्श की उपासना नहीं है, या अतीन्द्रिय की प्रहेलिका नहीं है। विश्वक्रिया के आदर और जीवन-संभोग की प्रेरणा में ही इस महाभाव की आदिम अभिव्यक्ति है। देवता लोग मनुष्य के सहचर हैं। विश्वसत्ता का विकास मानवात्मा का सम धर्मा है—कुछ भेद नहीं है। संभोग शुद्ध सरल और निरवकाश है, कहीं भी विचार की आविलता या संभोग-क्रिया में व्यवच्छेद नहीं है। यह संभोग और अज्ञात विश्व-प्रागता ही आर्य-जीवन का बीज है।

इस की ही विकास-परम्परा में आर्य-जीवन की क्रम परिणित निरवच्छिन्न भाव से देखती होगी।

वेद के साथ यज्ञ आदि क्रियाकांड का सम्बन्ध है। समस्त यज्ञादि-क्रियाकांड इसी जीवन-संभोग और इसी उपलब्धि के आनन्द में से निकले हैं। विश्व संसार संभोग मय है। देवता इस संभोग के मध्य में विराजित हैं देवता महाशक्ति हैं। उनके संभोग और आल्हाद का विधान करना मनुष्य का कर्तव्य है वे मनुष्य का संभोग-विधान करते हैं मनुष्य के सहचर के रूप में विराजित है, विश्व-संसार की संभोग-लीला में आत्म-नियोग करके रहते हैं। उनकी अर्चना में, उनको बलिदान देने और उनके साथ पान भोजन में मनुष्य को आनंद मिला उससे क्रमशः नाना अनुष्ठान और क्रियाकांड निकले। सामान्य अतिथि की चर्या में कितने क्रियाकांड समाज में किये जाते हैं। जब महा शक्ति-मय-पुरुष, देवता, अतिथि हो, उस समय निमंत्रण, शिष्टाचार आदर, मर्यादा प्रभृति के सब विधान कैसे होंगे--सहज ही अनुमान किया जासकता है। क्रियाकांड इस भाव के स्वाभाविक फल है, यह समझाने की आवश्यकता नही। परन्तु सर्वतः यह संभोग का प्रसार मात्र है- इसमें देवता और मनुष्य दोनों; संभोग में समान भाग लेते हैं। वास्तव-विश्व में उपभोग में आनन्द लाभ करने की यही चरम सीमा है। यहां मनुष्य का आत्म-विश्वास दृढ़ है, सरल आत्मभाव, स्वाभाविक और प्रशस्त है। इसलिये देवता मनुष्य का अतिथि है, दोनों की सम-भोग्य वस्तु विश्वसंसार है।

इस संभोग में विकास है। इसमें क्रमशः आत्मबोध और आत्म-विश्वास का विकास पाना स्वाभाविक है : इस विश्व-क्रिया में ही "जगत्

मुझ से दूसरा" यह ज्ञान प्रकाश पायेगा; संभोग शायद क्रमशः स्वप्न होगा। यह शक्ति कौन है? यह तो मुझसे भिन्न है। किंतु फिर संभोग के आल्हाद के रूप में यह मेरे भीतर कैसे है? इसके साथ सम्पर्क में आजाने से तो मैं संभोग से विह्वल हो जाता हूं; संभोग के आल्हाद में यह जो मेरे अन्दर एक अखंड, अभिन्न, अनंत शक्ति है—यह तब फिर क्या है? मैं तो अवयव-विशिष्ट हूं, सांत हूं. विश्व की क्रियाराशि भी ऐसी ही सांत और सीमावंत है— तो फिर यह अनंत क्या वस्तु है? यहां ही व्यक्तित्व की परिणति के साथ चिंता का विकास है— द्वैतअ द्वैत क संग्राम है। यहां ही सत्य कभी २ स्वप्न और स्वप्न सत्य हो जाता है वास्तव प्रहेलिका और प्रहेलिका भोग्य होती है। उपनिषद् में ऋषि-कण्ठ द्वारा इस भाव की सूचना और उसका आदि विकास है। दर्शनों के वे भाव इस स्वप्न-सत्य की आलोचना और विश्लेषण है. धर्ममत और साधना में फिर इस विश्लेषण-फल का संभोग है, स्वप्न में वास्तविकता की धारणा एवं वास्तव क्रियाराशि के भीतर कर्तव्य का निर्धारण है।

उपनिषद्-गत इसी स्वप्न सत्य का आदिम अवबोध वेदान्त के विश्लेषण में चरम सीमा पर पहुंच गया है। बाह्य जगत के अन्तराल में मनुष्य ने अज्ञात-भाव से जिस विश्व-सत्ता का अनुभव किया था, वेदांत के सूक्ष्म तर्क में विभिन्न-क्रिया-समन्वित, भोग्य, विश्व-मय, विचित्र और अनंत उसी महासत्ता की प्रकृति और प्रक्रिया प्रतिपादित हो रही है। सब एक होकर फिर भी विभिन्न और विचित्र कैसे होगा? इसलिये विचित्र में यह जो जाहिरा पहेली है वह एक विश्व-शक्ति के एक विभाव के सदृश प्रकटित होती है, इससे सत्य के ही स्वप्न के समान मालुम होती है। किंतु इस स्वप्न में वास्तव को असत्य समझ कर उसे छोड़ नहीं दिया

जाता। यह वास्तव ही ब्रह्म,अ नुभूति ही सत्य और संभोग ही साधना है। यही वेदान्त का अद्वैतवाद और कर्मयोग की निष्ठा है। यही आर्य-दर्शनों का श्रेष्ठ उपदेश है। विश्वब्रह्मांड या मानव जीवन मरीचिका नहीं है, सत्य में इसकी स्थिति है, सत्य के विकास में इसकी गति और परिणति है। यह भ्रम सरीखा होने पर भी, सत्य का भ्रम है। इसी भ्रम के मर्म में सार-सत्य और श्रेष्ठ तत्व निहित है। इस भ्रम के हृदय में कर्मसाधना की लीला और सत्य-लाभ का प्रकृष्ट मार्ग है। भ्रम समझ कर क्रिया कभी परित्याग नहीं की जाती। कर्तव्यबोध से क्रिया-संभोग करके उसी क्रिया-राशि के मध्य में सत्य लाभ करना होगा। सत्य अन्यत्र नहीं है।

जीवन का समुचित कर्म-संभोग ही वेदांत की साधना है। इस संभोग की तृप्ति में ही मुक्ति है। दुःख ज्ञान से वह तृप्ति संभव नहीं हो सकती। इसलिये विधाता के दान में—मानव के कर्तव्य या कर्म-सम्भोग में--दुःख नहीं है। जो दुःख सा दीखता है वह भी विश्व क्रिया का अङ्ग है--वह भी सम्भोग की सामग्री है। दुःख ज्ञान केवल एक भ्रम है। दुःख समझ कर म्रियमाण बन जाने से साधक को पाप होता है सम्भोग में सुख जैसे सत्य है, दुःख भी उसी तरह सेव्य है। इसलिये दुःख को सुख के समान समझ कर, क्रिया-राशि के संभोग में, कर्तव्य की साधना में तृप्ति लानी होगी। इस प्रकार संभोग-सत्य का अभ्यास करना होगा। विश्व क्रियायें—वृद्धि-क्षय, विकाश-विनाश, संचय—अपचय रक्षण—निधन—निर्विकल्प भाव से चल रहे हैं। अविचलित चित्त से विश्वक्रिया के इस निर्विकल्प-विधान-सादृश्य में कर्तव्य-पालन करके,

तृप्ति में जीवन—सम्भोग को सांग और समाप्त करना होगा। यही आनन्द, यही ज्ञान, यही सत्य है—इसमें ही मुक्ति है।

वेदांत के विकसित ब्रह्म-भाव में जगत् अवास्तव नहीं है, सम्भोग कभी स्वप्न नहीं है। सत्य में स्वप्न का भाव जागृत हो जाने पर, वास्तव में अवास्तव का भ्रम हो जाने पर, और भाव में अभाव-बोध आजाने पर, पूर्ण जीवन का मार्ग खुल जाता है। इसलिये जाहिरा अभाव बोध के मध्य में ही अवास्तवके स्वप्न और माया का प्रहेलिका को वेध कर जाने पर, वेदांत के पूर्ण-ब्रह्म का विकास है। विश्व के अवास्तव होने पर तो ब्रह्म का कुछ अर्थ ही नहीं रहता, आत्मा की स्थिति ही नहीं रहती। नाम-रूप-मय विचित्र वास्तव जगत् जो ब्रह्म का विकास है—उसमें अवास्तव क्या है? या स्वप्न क्या है? माया, मिथ्या, स्वप्न आदि सब शब्द, चिंता के विश्लेषण से व्यवहार हो रहे हैं। लेकिन ज्ञान की पूर्णता में, सत्य की धारणा के समय वास्तविकता से विमुखता नहीं होती। कर्तव्य का अवलम्बन ही श्रेष्ठतम ब्रह्म-साधना है, यह निश्चित है। वास्तव-विश्व सत्य है—यह आर्य की जीवन स्थिति और जीवन क्रिया से स्पष्ट प्रगटित है। कर्तव्य उसके लिये अपरिहार्य है। उसकी वेंनैतिकता सांसारिकता में पूर्ण है-तब हो सकता है कि सांसारिक सुख-दुःख से अधीर या कातर होने के कारण विषय-संभोग में उसकी तृप्ति नहीं है, आत्मा का आनंद नहीं है, जीवन में संतोष नहीं है। इस लिये सब सुख को सत्य, सम्भोग विश्व का विभाव मान कर, उन सब में समभाव ले आना आर्य जीवन कीनीति और अभ्यास बना चुका है। इससे उसका सम्भोग ह्रस्व और नीरस न रह कर, और उन्नत और सरस बन गया है। अतृप्त जीव संसार-कर्म में तृप्ति की आशा पाकर,

आल्हाद से परिप्लुत हो चुका है। सम्भोग-दुःख में अवच्छिन्न न रह कर आनंद में पर्यवसित हो चुका है, फलतः आर्य जीवन ने सरल-सम्भोग--बीज से विकसित होकर, ज्ञान के विश्लेषण के प्रतिघात के समय, उसी सम्भोग-साधना में दुःख की आविलता को लांघ कर, विश्व-जगत् की सरस, आशामय, जीवंत अनुभूति में जीवन के सार-सत्व को प्रस्फुट कर दिया। सम्भोग-मय विश्व-जगत् की निर्विकल्प विश्व-शक्ति को अनुभव करके, अनंत आत्म प्रसार की स्फूर्ति में, आर्य जीवन का सार सत्य देख चुका। अतएव इसी सम्भोग में आर्य-जीवन की उत्पत्ति है; उसके विकास में आर्य जीवन की व्याप्ति और उसकी ही स्थिर अनुभूति में आर्य जीवन की परिणति है।

तृतीय अध्याय

आर्यजीवन का अधिष्ठान–धर्म
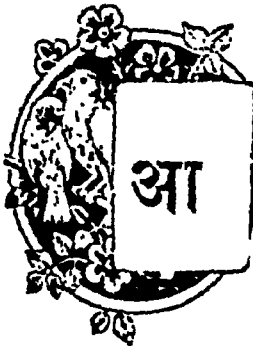
आ
ज कल 'धर्म' को लोग बहुत साधारण भाव से समझते हैं। अंग्रेजी में 'रिलीजन' (Religion) से जो समझा जाता है, 'धर्म' से आज कल इस देश के पढ़े लिखे लोग प्रायः वही समझते हैं। ईसाई धर्म, मुसलमान धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म--इन सब में 'धर्म' शब्द इसी अर्थ में व्यवहार किया जाता है। इस धर्म में कुछ तो ईश्वर, आत्मा और विश्व-नियम के सम्बंध में मतवाद मात्र हैं। और कुछ सत्य या तत्व के अन्वेषण में बुद्धि के खेल हैं। कुछ तक इस बुद्धि के खेल के साथ क्रिया या अनुष्ठान की पद्धति भी जोड़ दी गई है। उन मतों को जो लोग मानते हैं, उनकी पद्धतियों का पालन करते हैं; वे लोग उन्हीं धर्मों के माने जाते हैं। उनके अनुकरण के कारण "हिन्दू धर्म" यह शब्द भी इसी तरह के किसी अर्थ के आरोप में कुछ काल से चला आता है। किंतु आर्य लोगों ने कभी धर्म शब्द को इस अर्थ में व्यवहार नहीं

किया। सृष्टि के मूल-पदार्थ या ईश्वरादि विषयक मतवाद आर्य का 'धर्म' नहीं है। धर्म की धारणा, आर्य की दृढ़, स्थिर और नित्य है। धर्म मानव जीवन की प्रकृति है यह मनुष्य का मनुषत्व है।

यह सत्य है कि आर्यजीवन में नाना प्रकार के मतवादों ने विकास पाया, लेकिन इन सब मतवादों से धर्म नहीं निकलता। वरन् ये सब मतवाद तो इसी धर्म धारणा के समझने की, व्याख्या करने की और सत्य-अनुसंधान करने की चेष्टा से उत्पन्न हुए। जिस सत्य की व्याख्या का अनुसंधान करना होगा, वह तो सत्य एवं स्थिर है। बुद्धि के खेल से उसमें परिवर्तन नहीं होता। किसी मतवाद से सत्य का अपलाप नहीं होता, धर्म-धारणा का इतर-विशेष नहीं होता।

आध्यात्मिक आर्य का धर्म सनातन है। यह चिरकाल ईश्वर के सदृश एकरूप, विश्व के सदृश विस्तीर्ण और सृष्टि के सदृश नियमित है। मनुष्य के लिये विधाता ने अपौरुषेय वेद में धर्म-तत्व रख दिया है। आर्य कहता है—

"नहि कश्चित् वेद कर्ता, स्मर्ताऽस प्रभुरीश्वरः"

अर्थात् "वेद का कोई कर्ता नहीं है। वह तो मात्र ईश्वर स्मरण है।" ईश्वर जैसे सनातन है, वेद भी उसी तरह सनातन है। ईश्वर सृष्टि का कारण, वेद में उस सृष्टि का नियम है। यह सृष्टि नियम ही धर्म है। वह अकाट्य और स्थिर है। ईश्वर भी इसका परिवर्तन नहीं कर सकते—अर्थात् नहीं करेंगे। ऐसा करने से तो सृष्टि के नियम में व्यभिचार होगा, सृष्टि-शृंखला में कुछ नीति नहीं रह जायगी।

सनातन विश्व-शृंखला में आर्य का परम विश्वास है। उसका विश्वास है कि निर्विकल्प भगवान् एवं उनके सब विश्व-नियम, एक और निर्दिष्ट हैं। उसमें शांत-मानव-बुद्धि कल्पित विकार या संस्कार नहीं हैं। ईश्वर तथा धर्म 'सत्' या सत्य है। मनुष्य अपनी स्वाधीन बुद्धि के बल से उस सत्य की व्याख्या मात्र करता है। इसलिये प्रकट में भिन्न २ मतवाद हैं। मनुष्य की बुद्धि और अधिकार के अनुसार उसका तारतम्य है। फलतः धर्म की व्याख्या ईश्वर-तत्त्व और विश्व-नियमादि की आलोचना के विषय में आर्य-संतान स्वाधीन है। स्थिर-धर्म को सन्यस्त करने में आर्य व्यक्तिगत मत के अतिरिक्त वहां उसे और कुछ उपाय ही नहीं है। इसलिये उस व्यक्तिगत मत में कोई बाधा नहीं देता।

पृथ्वी में और जो सब धर्म हैं उनमें यह मतवाद ही धर्म का सर्वस्व है, उनमें इस मतवाद को ही धर्म मान लिया गया है। एक २ आदमी का मतवाद धर्म नाम से प्रचारित हो चुका है—इसलिये इन मतवादों में किसी दूसरे को समालोचना का अधिकार नहीं। समालोचना से एक नवीन मतवाद का खड़ा होजाना स्वाभाविक है। ऐसा होने से वह फिर एक अन्य धर्म बन जायेगा। धर्म के निर्दिष्ट मतवाद में विश्वास हो या न हो, लेकिन "विश्वास है" प्रकट में यही कहने के लिये लोग बाध्य हैं। उन सब धर्मों में मनुष्य के स्वाधीन विचारों को उस प्रकार का क्षेत्र नहीं है। मनुष्य के स्वाधीन चिंता या स्वाधीन आलोचना प्रकाश करने से वह एक प्रकार विधर्मी माना जाने लगता है।

पहिले, इसलिये, ईसाई और मुसलमान धर्म में इस प्रकार कितने ही स्वाधीन-चेता लोग, व्यक्तिगत मत प्रकट करने के कारण, विधर्मी

माने जाकर, जल चुके, सूली पर चढ़ चुके, काट डाले गये और जेल में मर चुके हैं। इस तरह स्वाधीन मत का सहना उन सब धर्मों की प्रकृति नहीं है। इसलिए इन सब धर्मों ने स्वाधीन-मत बरदास्त नहीं किया, इटली के गेलीलियो ने कहा—"पृथ्वी गोल है और सूर्य के चारों ओर घूमती है।" यह कोई धर्म सिद्धांत नहीं, तो भी इस तनिक सी व्यक्तिगत स्वाधीनता को देखकर धर्माध्यक्ष पोप को कोप हो आया और फलत: मनीषिवर गेलीलियो ने जेल में रह कर प्राण त्याग कर दिया।

इस प्रकार के उदाहरण उन सब देशों में कितने ही मिलेंगे। किंतु व्यक्तिगत मत के लिये पवित्र आर्यभूमि भारतवर्ष में धर्म के नाम पर ऐसी नरहत्या कभी नहीं हुई। द्वैत, अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत आदि नाना मत से धर्म की व्याख्या हुई। नाना देव-देवियों और महापुरुषों के नाम से शाखा मत प्रचारित हुए! लेकिन उनका किसी के साथ विरोध है—आर्य ने यह कभी नहीं सोचा। सब एक निर्दिष्ट सनातन आर्य धर्म की एक व्याख्या रूप एवं उसी धर्म के अंगीभूत माने गये। इन सब मत-वादों के बीच में धर्म का अपलाप नहीं हुआ। यहां केवल बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में संदेह हो सकता है। वह एक प्रकार से आर्य धर्म की व्याख्या होने पर भी प्रत्यक्ष भाव से वेद-विश्वास का विरोधी है। वेद के सनातन नित्यधर्म की व्याख्या के तौर पर बौद्ध धर्म नहीं प्रचारित हुआ। इसमें ईश्वर और आत्मा प्रभृति की धारणा सनातन आर्य धर्म की धारणा के साथ सम्पूर्णतया एक नहीं। इसलिये यह आर्य धर्म का अंगीभूत नहीं माना गया। किन्तु यह होने पर भी मतवाद का विरोध बौद्ध धर्म के संबन्ध में भी इस देश में उस तरह के

प्रगट नहीं हुआ। १५०० साल तक बौद्ध धर्म इस देश में प्रचलित रहा किन्तु उसमें भी नारामारी रक्तपात अंतर्विवाद आदि कुछ नहीं दीखते। हूण, सीदीयन, मुगल मुसलमान—कितने ही अन्यधर्मी लोग इस देश में आये किंतु आर्यों ने उन सब धर्मों को अपना एक २ मतवाद मान लिया इससे स्थिर धर्म का अपलाप हुआ यह उन्होंने नहीं माना। इसलिये आर्यभूमि में धर्म विवाद का उपद्रव कभी नहीं देखा गया। मुसल्मानों ने एक समय तलवार दिखाकर अपना धर्म मनवाने का प्रयत्न किया, किंतु धर्म नाम से एक मतवाद को ही पकड़ कर कोप या द्वेष करना-आर्यों ने यह कभी नहीं सोचा। चैतन्य आदि महात्मा लोगों ने मुसल्मानों के धर्म को आर्य धर्म के अन्तर्गत एवं उसके पक्ष विरोध की व्याख्या के रूप में स्पष्ट समझा दिया। उन्होंने सनातन आर्यधर्म के साम्यवाद से पृथ्वी को जीतने का प्रयत्न किया। धर्म नाम से अधर्म करना आर्य धर्म की प्रकृति नहीं है। निर्दिष्ट सत्य धर्म का अधिष्ठान है, विशाल प्रेम उसकी प्रतीति है, द्वेष रोष जनित रक्तपात के साथ धर्म का चिर-विरोध है। आर्य ने यह समझ लिया था, इसीसे समस्त मतवाद की स्वाधीनता के मध्य में उसने धर्म के नित्य आदर्श को नित्य रक्खा।

तब इतने मतवादों की स्वाधीनता के मध्य वह सनातन धर्म क्या है? धर्म शब्द के अर्थ से परिज्ञात होता है वह—जिसके द्वारा संसार धरा हुआ है। जगत् का कारण जगत्पिता है, एवं जगत् के अधिष्ठान के लिये जो दुनिया है—वही सब धर्म है। अगर धर्म न होता, तो संसार भी न रहता। ईश्वर सृष्ट इस सनातन विश्व संसार में प्रत्येक वस्तु; जंतु और व्यक्ति का एक एक निर्दिष्ट उद्देश्य स्थान और अधिकार है। निर्दिष्ट

अधिकार में, वह निर्दिष्ट उद्देश्य साधन करना ही उन सबका धर्म है अथवा धर्म विश्वसंसार के सदृश सनातन है-यह आर्य का विश्वास है।

विश्व संसार का उद्देश्य ही जब धर्म हो, तब उस धर्म को अपने मन से बदलना मनुष्य के लिये असम्भव है। नत मस्तक होकर उस धर्म को ग्रहण करना ही मनुष्य के लिये उचित है। आर्य ने उस उचित को समझा था। अनन्त विश्व उद्देश्यमय है। चिन्मय परमात्मा उद्देश्य रूप में विश्व में व्याप्त रहते हैं। यह आध्यात्मिकता आर्य का प्राण है। एवं इस आध्यात्मिक दृष्टि से उसके लिये प्रत्येक सृष्टि वस्तु की निर्दिष्ट प्रकृति, क्रिया और उद्देश्य सर्वदा नित्य और अविचलित हैं। वस्तु का वस्तुत्व, जीव का जीवत्व, गौ का गौत्व और मानव का मानवत्व ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व, शूद्र का शूद्रत्व एवं उनके अपने २ धर्म हैं। ऊपर से नीचे आपड़ना वस्तु का धर्म है, पानी और धूप पाने से उग उठना बीज का धर्म है, घास खाकर दूध देना गौ का धर्म है। परिवार, समाज, जाति में अपने कर्तव्य करना भी उसी तरह मनुष्य का धर्म है। धर्म की यह व्यापक धारणा या सनातनत्व आर्य की आध्यात्मिकता का फल है।

विधाता ने जगत् रचा, और नाना विषयों के विधान से वह अब जगत् का पालन करते हैं। विश्वासी भक्त इन्हीं नियम-निबन्ध को धर्म कहता है। उसका धर्म विश्व-पिता का नियम, या मानों आदेश है। यह सृष्टि सदृश पुरातन, विश्व-जगत् सदृश अनन्त व्यापक और सनातन है। ज्ञानी कहता है-समस्त जगत् में ईश्वर सत्ता विद्यमान् है, इस सृष्टि में परमात्मा आत्म लाभ करते हैं, विश्व के इस उद्देश्य में धर्म ही मार्ग है। उस ईश्वर सत्ता के सदृश धर्म ने निखिल-जड़-चेतन में सूक्ष्म

प्राण-रूप से अनन्त जगत् को जीवंत रखा है—जगत् के उद्देश्य को प्रगट किया है। इसलिये धर्म से ईश्वर सत्ता की प्राप्ति है। धर्म सत्य है, कल्पित या लोक-प्रचारित नहीं है। इसी धर्म से चराचर लोककी प्रतिष्ठा है, इसमें ही सृष्टि का हलन चलन या उसकी क्रिया होती है।

"नेहा भिक्रम नाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्प मप्यास्य धर्मस्य, त्रायते महतोभयात् ॥"

अर्थात्—"इस धर्म की उत्पत्ति, नाश, विकार या परिवर्तन नहीं होता। इस धर्म का तनिक भी परिचय पा लेने से मनुष्य महा पाप से त्राण पाता है।

संसार का अर्थ न समझ सकने के कारण मनुष्य डरता है। इस धर्म को जानलेने से इसे वह डर नहीं रह जाता। वास्तव में इस धर्म का ज्ञान एक मर्तबा आजाने से मनुष्य विश्व की महा व्यापकता में प्लावित होजायगा। इस धर्म मय विश्व जगत् में ईश्वर-सत्ता का स्पष्ट अनुभव कर बंध क्लेश, माया-मोह से उद्धार पालायेगा अनन्त जीवन मय विश्व जगत् में प्रत्येक का निर्दिष्ट स्थान और उद्देश्य है विश्वतंत्र में अपने निर्दिष्ट विशेषत्व या स्थिर कर्म को समझ कर वह वास्तविक अमरत्व अनुभव करेगा। आर्य ने ऐसा किया था।

वेद आर्य का धर्म-ग्रन्थ है। किंतु ईसाई के लिये जैसी बाईबिल (Bible) और मुसलमान के लिये कुरान है और बौद्ध के लिये जैसे सूत्र या त्रिपीटक है—वेद आर्य के लिये उस हिसाब का ग्रन्थ नहीं है। वेद अपौरुषेय है, अर्थात वह किसी मनुष्य का सृष्ट प्राणी का कृत या कल्पित नहीं है। इसको किसी ने बनाया नहीं। यह सच है कि आदिम

ऋषि लोगों ने इसका गान किया, और उसे सुन २ कर लोग परम्परा में रखते आए हैं। लेकिन इसको किसीने रचना नहीं की। यह किसी मनुष्य की बुद्धि-जन्म नीति या ईश्वर और सृष्टि-तत्व का प्रत्यायन नहीं है। ईश्वर सृष्टि में समस्त पदार्थों का निर्दिष्ट और अभ्रान्त धर्म है।। उसके बल से ही काष्ठ-पाषाण, वृक्ष लता से जीव-जगत् तक—ये सब पलते हैं। मनुष्य की भी, उसी तरह, जितनी ही अभ्रान्त वृत्तियां हैं। उसके चलने के लिये संसार के महा-उद्देश्य में अपना भाग पूरा करने के लिये, उसके कुछ सत्य और निर्दिष्ट कर्तव्य हैं। सृष्टि के विधाता ईश्वर ने समस्त पदार्थों को अपने २ धर्म या निर्दिष्ट उद्देश्य और कर्तव्य देने के साथ मनुष्य को भी मनुष्य का धर्म दिया है। आदि पुरुषों ने उस निर्दिष्ट धर्म और सत्य को मानो ईश्वर से पाया था; सरल वेद महागान में उसको ही प्रकाश किया था। इसी कारण वेद अपौरुषेय, अर्थात् किसी पुरुष का कर्म नहीं है। वह किसी व्यक्ति या वस्तु का रचित या कल्पित नहीं हो सकता।

आज कल पाश्चात्य शिक्षा, पाश्चात्य आदर्श, देश में बहुत प्रभाव फैला चुके हैं। लोग अध्यात्मिक सरल तत्व की वास्तविक लोकरोचक व्याख्या चाहते हैं। इसलिये सहज वेद अपौरुषेय को वे नहीं समझेंगे। वे सब बातों तोल कर, और व्यक्तिगत बुद्धि से नाप कर देखेंगे। पाश्चात्य देश के प्रधान लोगों का वचन वे शायद सहज ही विश्वास करलेंगे। पाश्चात्य भाषा में कहला सकता है कि आदि मानव ने सरल भाव से जगत्, ईश्वर, कर्तव्य प्रभृति के सम्बन्ध में जो धारणा की थी, स्वतः जो धारणा उसके मन में उदित हुई थी, वह शुद्ध अनाविल धारणा ही

वेद-गान में प्रकाशित हुई। उस समय आदिम मानव की सरल दृष्टि में विश्वतंत्र नियत, नियमित और समूह भाव से प्रभावित, होता था। इसलिये वेद में महाविश्व एकता अनुभव और सत्यधर्म की प्रतिष्ठा है।

इस तरह समर्थन से भी वेद का अपौरुषेयत्व प्रमाणित होता है। यह सिद्धांत भी वेद के सनातनत्व में कुछ बाधा नहीं डालता। मोक्ष-मूलर (Mox Muler) फ्लाईडरर (Fliedeerer) आदि पाश्चात्य देश के धर्म-दर्शन-वित लोग भी प्रकारांतर से यही कहते हैं। अन्वेषण के बाद उन्होंने स्थिर किया है कि वेद में आर्यजाति की शुद्ध अनाविल, आदिम धर्मधारणा दीखती है। इससे मालूम होता है कि वैदिक ऋषियों को पूर्ण अखंड ब्रह्म की एक अज्ञात धारणा थी-उस धारणा की निवृत्ति, विश्लेषण और सकारण-ज्ञान ही भारत से यूरुप तक के समस्त दर्शन और आर्य-धर्म-दर्शन-साहित्य में, दीख पड़ते हैं। सोद्देश्य-परिणामवादी लोग—अर्थात् वे लोग जो मानते हैं कि समस्त मूत और भाव-राज्य में उद्देश्य के रहते हुये क्रम परिणाम होता है। (Theological Evolutionists)-भी यही कहते हैं। हैगल (Hegol) मतवादी दोनों केर्ड-भाई (Caird Brothars) हैगल के मत को मानकर साबित करते हैं कि आर्य धर्म जो पहिले अज्ञात भाव से था वही फिर बीज से वृक्ष और फिर वृक्ष के भीतर से बीज के आत्म विकास और आत्मलाभ की तरह से उसी चरम सिद्धांत की ओर ज्ञान की विश्लेषण-प्रक्रिया में, ज्ञान के साथ जाता है। वे किसी भी भाव से प्रेरित होकर, वेद प्रचारित धर्म को अपने आलोचित, और कल्पित धर्म जगत् में कुछ भी स्थान क्यों न दें

वेद की धर्म धारणा के अन्दर एक ही साथ अखंड-अनंत का अनुभव है यह उन्होंने माना यह निश्चित है। फिर यह अनुभव अज्ञात है। तब आर्य तो यह विश्वास करते हैं कि सृष्टि के आदि में स्वयं भगवान् ने मनुष्य को वेद दिया उसमें संदेह करने की क्या बात है। यह भोत्र अज्ञातवास से स्वतः उदित हुआ और भगवान् ने दिया—इन दोनों सिद्धान्तों में क्या कोई विशेष भेद है? है तो सिर्फ इतना ही पहले कि ईमी—तार्किक की भाषा है, दूसरी विश्वासी आध्यात्मवादी की धारणा है। इसी को विश्वासी आर्य भाषा में कहने से लिखा जायगा वेद सनातन और अपौरुषेय है।

तार्किकता आर्य को नहीं आती, सो नहीं; किंतु वेद-विश्वास में आर्य का तर्क नहीं है। आध्यात्मिक धर्मभाव से स्थिर रहकर आर्य ने सत्य का अन्वेषण किया अर्थात् सृष्टि-तत्व की व्याख्या की। वही उसकी तार्किकता है। उससे ही दर्शन शास्त्र का उद्भव है, मतवादों की सृष्टि है। ये सब होने पर भी, इन सब का मूल, अर्थात् अध्यात्मिकता और धर्म भाव आर्य के निकट दर्शन प्रसूत ज्ञान नहीं—धारणा और विश्वास है, जो फिर दर्शनादि द्वारा केवल नाना भाव से प्रमाणित हुआ। इस आध्यात्मिक धर्म धारण के बिना आर्य किसी व्यक्ति जन्तु या पदार्थ की कल्पना नहीं कर सकता। उसकी स्थिर धारणा है कि अखंड ब्रह्म-ज्योति से आपामर—चराचर समस्त विश्व ब्रह्मांड प्राणित और प्रमाणित होता है। इस अनंत ब्रह्मज्योति के बिना चराचर की सत्ता नहीं है। विधाता अपने नियम से सर्व सृष्टि में व्याप रहे हैं। यदि यह न होता तो सब स्थित असंभव; विदव, शृंखला अर्थ हीन और जगत् शून्य होता।

इस व्यापक आध्यात्मिकता से आर्य के धर्म भाव की उन्नति है। वरन् यह कहना ठीक होगा कि इसी व्यापक आध्यात्मिकता के साथ आर्य के धर्म-भाव का नित्य सम्बन्ध है। विश्व की शृंखला एवं जगत् की परिचालना में आर्य ने धर्म का दर्शन किया। अन्ध उद्देशहीन परमाणु का यथेच्छा समकार्य ही सृष्टि नहीं है, अर्थात् किसी ओर से कितने किसी भी रूप से मिल जाने से ही पृथ्वी-सूर्य-तारा वस्तु जंतुमय इस अनन्त सृष्टि का निर्माण नहीं होगया। इस सृष्टि का उद्देश्य है। प्रत्येय सृष्ट वस्तु में विश्व—नियन्ता, ने उद्देश्य रखे हुए हैं। वह उद्देश्य जिस नियम से साधित होता है वही धर्म है।

इस धर्म को वर्तमान काल की साधारण-बोध्य भाषा में कर्तव्य कहा जा सकता है। किंतु कर्तव्य कहने से हम लोग जो समझते हैं—आर्य की धर्म धारणा ठीक वही नहीं है। धर्म कर्तव्य से अधिक व्यापक गंभीर और स्थाई है। स्वर्ग विधान की परिचारण का जो मंत्र या नियम है, वह साधरण व्यक्ति—बुद्धि—नियमित कर्तब्य के साथ समान नहीं हो सकता। कर्तव्य व्यक्ति बुद्धि से प्रभावित हो सकता है लेकिन अनंत-स्वर्ग विधान के तंत्र की चालना ही धर्म का एक मात्र अधिष्ठान है। धर्म के साथ समस्त सृष्टि की ब्यापक धारणा विद्यमान् रही है। यह सृष्ट वस्तु का वस्तुत्व है—यह नित्य है। कर्तव्य वह है जो करना उचित है—वह 'उचित' 'अनुचित' शायद मनुष्य-विचार की अपेक्षा रखता है। किंतु आर्य का धर्म सिर्फ कर्तव्य नहीं है, 'उचित' नहीं है—बल्कि सृष्टि का जीवन है। इसके बिना स्थिति असम्भव है। भक्त-भाषा में यही 'विश्व पिता का आदेश, है। इसमें 'उचित' 'अनुचित' विचार का अधिकार मनुष्य को नहीं।

विश्वासी आर्य का कर्तव्य ही धर्म है। लेकिन वह कर्तव्य कल्पित नहीं है। मनुष्य की इच्छा, रुचि या सुविधा के अनुसार उसका परिवर्तन नहीं होता। सूर्य जिस नियम से उदित होकर जगत् को आलोक देता है; जिस नियम से यथाकाल शीतादि-ऋतु पृथ्वी पर प्रगट होती है; जिस नियम से वृक्ष छायादि देते हैं—मनुष्य उसीसे अपने निर्दिष्ट कर्तव्य करेगा। उस अपरिवर्तनीय विश्व-विधाता के नियम से स्त्री स्वामी के प्रति कर्तव्य करेगी पुत्र पिता की भक्ति करेगा, पिता परिवार का पालन करेगा। उसी नियम से ब्राह्मण ज्ञानालोचना करेंगे; क्षत्रिय युद्ध करेंगे, वैश्य कृषि-वाणिज्य-गोरक्षा करेंगे और शूद्र सेवा करेंगे—सब अपनी २ निर्दिष्ट क्रिया में रह कर समाज-रक्षा करेंगे। सब मानो विधाता का आदेश-पालन और विश्व-पिता में आत्म समर्पण करके कर्म निरत रहेंगे। इसमें किसी को आपत्ति करने का कोई स्थल नहीं—असंतुष्ट या विचलित होने की कोई बात नहीं। श्रीमद्भगवद्‌गीता सर्व वेदांत सार है, धर्म नीति का सार-संग्रह है, उस में भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म बतलाकर अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। भ्रातृ हत्या के मोह से पहिले कथंचित् संकुचित होते हुए भी अकार्य धर्म मान कर अर्जुन उसमें प्रवृत्त हुए, विचलित नहीं हुए। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्, क्षत्रियस्य न विद्यते॥"

अर्थात्—हे अर्जुन, स्वधर्म पालन करने के समय तुम्हें नरहत्या या भ्रातृ हत्या करनी होगी, यह समझ कर भीत या संकुचित होना

ठीक नहीं। दुष्ट दमन के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। ऐसे धर्म युद्ध से बढ़ कर और कोई श्रेय क्षत्रिय के लिये नहीं है।

यूरोपीय लोग और युरोपीय मतावलम्बी कुछ भारतीय, गीता धर्म शास्त्र है—इसका घोर प्रतिवाद करते हैं। वे कहते हैं कि जिस शास्त्र में श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध के लिये उकसाते हैं, जिस ग्रंथ में नरहत्य का धर्म मान कर उपदेश दिया जाता है—वह कैसे श्रेष्ठ धर्म शास्त्र हो सकता है? यह बात कहते समय ये अध्यात्म-परायण आर्य-धारणा को नहीं समझते। आर्य के धर्म ज्ञान में युद्ध शांति में कुछ भेदाभेद नही है, नरहत्या, गोपालन में तारतम्प नहीं है, जन्म-मृत्यु में अंतर नहीं है।

जिस तरह सृष्टि क्रिया अनंत मुखी है, उसी तरह धर्म भी अनंत मुख से निर्दिष्ट है। सृष्टि में जन्म जैसे आवश्यक है, मृत्यु भी उसी तरह आवश्यक है। जैसा पालन है वैसा ही निधन भी है। किस का कर्तव्य पोषण है और किस का भक्षण—किस का त्याग और किस का भोग?—ये सब भेद तो अज्ञान मनुष्य के लिये हैं। सनातन धर्म-धारणा में भेद नहीं है। धर्म से सृष्टि का उद्देश्य सिद्ध होता है—विभु की इच्छा पूर्ण होती है। उसमें जो जन्म है वही मरण है--उन में भेद विचार करने का मनुष्य का क्या अधिकार है?

वास्तव में जगत् परमात्मा-शक्ति का विकास है। उस में कौन तो मरता है और कौन मारता है? आर्य की धर्म-धारणा में यह नीति, यह विश्वास स्वाभाविक है। अनंत जीवन-चिन्मय विश्वतंत्र में सब अपना २ निर्दिष्ट स्थान ही पूर्ण करते हैं। वही धर्म है उसी धर्म से

ब्राह्मण मनुष्य-सेवा के लिये सन्यासी होता है, उसी धर्म से क्षत्रिय रक्षा के लिये युद्ध करता है--उसी धर्म से अर्जुन युद्ध करने के लिये बाध्य हैं। धर्म में मनुष्य के प्रतिपाद के लिये कुछ नहीं। जिसका जो धर्म है. उसे वह करना पड़ेगा--उसमें रुचि-अरुचि नहीं, फलाफल-विचार नहीं। जो जिसका निर्दिष्ट धर्म है वह उसके जीवन का ध्रुव-तारा है, व्यक्तित्व का आदर्श है। उसके अनुसार कर्म करना ही होगा। मरण हो, पतन हो, शोक हो, या समृद्धि बढ़े--धर्म छोड़ना आर्य के लिये असम्भव है, महा पाप है। वह यह न कर सकेगा। उसका विश्वास है कि--

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह।"

अर्थात्--अपने धर्म में मरण हो—वह भी सुख कर, लेकिन परधर्म--अन्यधर्म--आचरण करना कभी भी उचित नहीं।

विश्व पिता के विधान में, सृष्टि वस्तु के निर्दिष्ट धर्म में, जिसे यह विश्वास है, उसे किसी कर्तव्य में भय, विषाद या अरुचि होना असम्भव है।

विधाता के राज्य में प्रत्येक वस्तु का निर्दिष्ट स्थान निरूपित किया है। प्रत्येक उसे करेंगे। न करने से विश्वतंत्र निरुद्देश्य ठहरेगा, सृष्टि नहीं रहेगी, सभ्यता नहीं बढ़ेगी--समाज विशृङ्खल हो जायगा। विश्व नियंता के विधान में सर्वत्र नीति है मान है। सब उसी निर्दिष्ट नीति में, उसी प्रमाण में, एक २ उद्देश्य का अनुसरण करते हैं। सामूहिक विश्व की आपेक्षिक और संहत क्रियाराशि की एक बार धारणा कर सकने से सब स्पष्ट समझ में आजायगा कि इस अनंत विधान स्वेच्छाचार

लिए स्थान नहीं है। किसी के लिये स्वेच्छाचारी होना ठीक नहीं। पशु-पक्षी वृक्षलता, काष्ठ-पाषाण स्वेच्छाचारी नहीं होते। क्योंकि वे ज्ञान नहीं रखते। निर्दिष्ट नियम के अनुवर्तन करने के सिवाय और किसी तरह चलने का ज्ञान या अधिकार उन्हें नहीं दिया गया। मनुष्य का यह ज्ञान, यह अधिकार है। साथ ही विश्व तंत्र की धारणा करने की भी उसे शक्ति है। क्योंकि उसे ज्ञान है, क्योंकि वह समझता है—इससे इच्छा करके स्वतंत्र हो जाना क्या उसके लिये उचित है? मनुष्य के जो ज्ञान, अधिकार, हैं—उसके व्यवहार का यह क्षेत्र नहीं है। उस अधिकार का बहुत सदुव्यवहार है; निर्दिष्ट सामाजिक या व्यक्तिगत कर्तव्य में त्रुटि करना तो उस ज्ञान का अपव्यवहार मात्र है।

तब उस ज्ञान का उस अधिकार का–व्यवहार कहां है? जगत् का तंत्र स्थिर है और उस स्थिर नियमितता से आर्य इस प्रकार स्वतंत्र न हो जासकेगा यह बात समझने से हठात् मन में आसकता है कि आर्य को व्यक्तिगत स्वाधीनता बिलकुल न थी तो क्या कहीं आर्य जगत् में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को बिलकुल भूल गया था? किंतु व्यक्तिगत स्वाधीनता और स्वेच्छाचरिता एक चीज नहीं होती। स्वाधीनता आदर्श की अपेक्षा रखती है अतएव स्वाधीन कर्म परम्परा में शृंखला रखती है। स्वेच्छाचारिता नियमहीन और विशृङ्खला है। स्वाधीनता में संयम है, स्वेच्छाचारिता निरंकुश है। वृक्षबढ़ने के विषय में स्वाधीन हैं। जिस ओर से अधिक आलोक और खाद्य पाता है, मानों जान बूझकर टटोल २ कर, उसी ओर अपनी डालियां और जड़ बढ़ाता है। किंतु सृष्टि में उसे स्वेच्छाचारिता नहीं है। अपनी मर्जी से ही वह खाद्य ग्रहण नहीं करेगा, शाखा नहीं बढ़ायेगा, फूल नहीं उगायेगा। यह सब अधिकार उसे

नहीं मिला। यह उसका धर्म नहीं है मनुष्य के ज्ञान शक्ति है बुद्धि विवेक है, उन सबका स्वाधीन व्यवहार का वह सृष्टि-त्व को खोल देखेगा, सत्य का खेलकर जान लेगा। धर्म-अधर्म,कर्तव्य-अकर्तव्य समझेगा। इन सब सृष्टि नियमों से अपने आदर्शों का परित्याग करके अवश्य वह अन्य प्रकार विश्रृंखल क्रिया विधान में अपनी शक्ति प्रयोग कर सकता है—लेकिन ऐसा करना उसे उचित नहीं। सृष्टि नियम में उसका जो धर्म है समाज नियम उसका जो स्थिर कर्तव्य है, उसे जो करना उचित है, जिसे न करने से भगवान् के राज्य में विशृङ्खला हो जायगी—उसे न करना स्वेच्छाचारिता है। उस स्वेच्छाचारिता में अधिकार प्रयोग करना क्या मनुष्य के लिये उपयुक्त है? जानने की शक्ति है इसलिए यदि वह स्वेच्छाचारी होजाय तो वह ज्ञान शक्ति अपव्यवहार करता है। आर्य कहता है—भयावह पर धर्म आचारण करके वह भ्रष्ठ होता है—पाप करता है।

स्वाधीनता के इस निगूढ़ अर्थको आर्य ने समझलिया था। इससे उसने अपनी सभ्यता की निर्मल धारा ठीक बनाए रक्खी। आर्यभूमी में सभ्यता की परम्परा नहीं टूटी। अन्य-सभ्यता से आर्य विजित हुआ अपनी स्थिर आध्यात्मिक धारणा से विश्व एकत्व को समझकर. धर्म में—स्वधर्म अपना आदर्श दृढ़ रख कर आर्य यथेष्ट स्वाधीनता भोग करता आया है। वास्तव में इतिहास से देखा जाता है कि मनुष्य की स्वाधीन परम्परा में आर्य की सहिष्णुता बहुत अद्भुत और विस्मयकर है। जीवन के आदर्श से, सृष्टितंत्र की सामूहिक क्रिया, से विछिन्न होने का अधिकार मनुष्य को नहीं है। ज्ञान है—इससे कर्म में ऐसा अधिकार प्रयोग करना उचित नहीं है—आर्य ने यह जान लिया था। विश्वतंत्र

विधाता की लीला है। मनुष्य की स्वेच्छाचारिता जैसे अनुचित है, अपने मन से अन्य की स्वाधीनता अवरोध करना भी उसी तरह पाप है—यह भी आर्य की समझ में आचुका था। इस लिये सहिष्णुता उसकी प्रकृति, उदार आतिथेयता उसका एक प्रधान कर्तव्य रहा है। विधर्मी के ऊपर कभी अत्याचार करने की कल्पना भी उसने नहीं की। अपनी विशाल आतिथ्य परता में—विजयेच्छु के वास्ते भी उसने सदा अपना द्वार खोल रक्खा।

इस स्वाधीनता के कारण उसका जीवन विकास और सभ्यता की अभिवृद्धि परम्परा में उत्तरोत्तर बढ़ती रहीं. तमाम आधुनिक सभ्य देशों ने जिन जिन विषयों में उन्नति की है उनमें शायद उनकी अपनी परम्परा नहीं है; किंतु आर्य सभ्यता ने उन्नति के किसी भी विभाग का शेष नहीं छोड़ा। आज भी जगत् जिसे सभ्यता मानता है आर्य उसके विभाग के साधन में पिछड़ा नहीं रहा। शव-व्यवच्छेद' Anatoney)और शल्यतंत्र (Surgery) की साधना से, आरण्यक के तत्व लाभ और प्रचार तक जहाजी-दक्षता और वाणिज्य से यवनपुर (Alexandia) में विद्या चर्चा तक, आश्रम के नियमित जीवन से शिल्प की साहसिकता तक, श्रम विभाग की कठोरता से व्यवसाय की स्वाधीन लीला तक—आर्य नें किसी भी विभाग में प्रयत्न का अभाव नहीं रखा। किंतु आर्य में यह विशेषता है कि दृढ़-धर्म-धारणा के कारण अन्यान्य जातियोंकी तरह उसकी सभ्यता की परम्परा बीच २ में विप्लव से छिन्न या विध्वस्त नहीं होंगई। सनातन आर्य भूमि में नूतन सभ्यता ने प्रवेश नहीं कर पाया। प्रवेश किया ही न हो—सो नहीं, किंतु उसपर नवीन सभ्यता ने कभी बिल्कुल आधिपत्य नहीं जमा लिया। कभी कभी नूतन सभ्यता ने आर्य सभ्यता के

विभाव विशेष को प्रभावित मात्र किया। जब स्वेच्छाचारिता के अभाव के कारण, और आर्य परिवार, समाज और परम्परा जैसे दृढ़ थीं, तब स्वाधीनता के प्रभाव से विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य में भी वे उसी उन्मुक्त भाव से उन्नति कर सकते थे। इस उन्नति में विप्लव की विशृंखलता नहीं होगी। परदेश का प्रभाव सदा ही आर्य जीवन का अङ्ग बन गया, वह कभी स्वतंत्र नहीं रहा।

यहां स्वाधीनता और स्वेच्छाचारिता का प्रभेद समझाने के लिये एक प्रचलित बात का उदाहरण दे देने से विषय अधिक स्पष्ट होजायगा। आजकल सभा समिति चारों ओर चल रही है। स्वाधीन—भाव से आलोचना करना ही सभा के सदस्यों का विशेष अधिकार है। वे स्वाधीन—भाव से आलोचना करते हैं, किंतु स्वेच्छाचारी नहीं बन जाते। सभा के कितने ही नियम रहते हैं। स्वेच्छाचारी होकर उन सब नियमों को तोड़ डालोगे स्वाधीन आलोचना का स्थान नहीं रहेगा। यहां तुलना के लिये सभाके नियमोंको सभाका धर्म मान लेना ठीक होगा। सभाके सब नियम बिना कुछ आपत्ति उठाये पालन करना, सभ्य का कर्तव्य है। ठीक समय पर वे उपस्थित होंगे, एक व्यक्ति के बोलते समय दूसरा नहीं बोलेगा, जो सभापति हों, उनके द्वारा वे शासित होंगे। इन सब विधि या नियमों के अनुसार चलने से ही सभा में प्रकृत स्वाधीन आलोचना हो सकती है। ऐसा न कर, सभा के नियम न मानने से सभा न रहेगी—भंग हो जायगी। तब स्वाधीन आलोचना और कहीं होगी? हॉलैंड सरीखे एक स्वाधीन राज्य की व्यवस्था ले लीजिये। यह ठीक है कि वहां सब स्वाधीन-भाव से मत देंगे, स्वाधीन होकर कार्य करेंगे किंतु प्रत्येक सदस्य राज्य नियम के आधीन रहेगा, उस नियम

को तोड़ देने से स्वेच्छाचारी होकर राज-विद्रोह आरम्भ करने लगने से स्वाधीनता और कितने दिन रहेगी ?

मानव सांत या सीमाविशिष्ट है। उसकी इच्छा और प्रवृत्ति अनंत सुखी होने पर भी, उस अनंत इच्छा और अनंत प्रवृत्ति को चरितार्थ करना उसकी शक्ति से परे है। इसलिये किसी नित्य-निर्दिष्ट प्रणाली, शृङ्खला और संयम की आवश्यकता है। जी चाहे सो कर डालने से नहीं चलेगा। ऐसा करने से तो मनुष्य संसार में स्थिर न रह सकेगा। उसकी शक्ति अनंत नहीं है, सब स्थान और काल का ज्ञान उसे नहीं है। उसे स्वातंत्र्य है, विवेक और विचार शक्ति से उसको स्वाधीनता है; यह सच है, लेकिन वह स्वाधीनता निरपेक्ष स्वेच्छाचारिता नहीं है। जगत् के नित्य नियम में वह बंधा हुआ है, इस से, सांत मानव के लिये यह नियमाधीन स्वातंत्र्य ही स्वाधीनता है। जगत् में स्वेच्छाचारी होने के लिये गुंजायश नहीं। समस्त विश्व ब्रह्मांड को एक नित्य-तंत्र के आधीन अनुभव करके ही मनुष्य अपनी स्वाधीनता भोग कर सकेगा।

विश्व-ब्रह्मांड इसी प्रकार के एक तंत्र के आधीन है--आर्य यह धारणा कर सका था। उस से ही उसकी धर्म--धारणा है। उसी नित्य-निर्दिष्ट अकाट्य धर्म-धारणा में उसने अपनी समस्त स्वेच्छाचारिता को संपन्न रक्खा। उसने वास्तव में समझ लिया था--

"सः यज्ञः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रश्न विष्यध्व मेशवो स्तिष्ट कामधुक्॥"

अर्थात्—"सृष्टि के आरम्भ में विधाता ने यज्ञ अर्थात् कर्म और धर्म के साथ प्रजा सृष्ट करके कहा--"इस कर्म या धर्म के नियम में

रह कर तुम लोग अपनी स्वाधीनता भोग करो। यह धर्म तुम्हें ईप्सित प्रदान करे।"

प्राणी की सृष्टि के साथ ईश्वर ने कर्म की भी सृष्टि की। कर्म के बिना शरीर-यात्रा नहीं चलेगी। किंतु सब लोग कुछ एक काम नहीं करेंगे, किंवा हर एक सब के सब काम नहीं कर सकेगा, इससे विधाता ने कर्म के विभाग सृष्ट किये। ये कर्म-विभाग व्यक्ति, वस्तु या समाज गत धर्म के मूलाधार हैं। मानव के समाज-गत कर्तव्य के विषय में भगवान् स्वयं कहते हैं:—

"चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं, गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां, विद्धय कर्तारमव्ययम्॥"

अर्थात्—"गुण और कर्म के विभाग अनुसार मैंने चतुर्वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र—सृष्ट किये। अनादि विकार-हीन जो मैं—उसे ही तुम इसका कर्ता मानों"। वस्तुतः प्राण में कर्म का जो स्वाभाविक इंगित जागृत होता है उसमें मनुष्य का गुण विकाश पाता और आदर्श स्थिर होता है। इसी आदर्श में उसका अवश्य भावी व्यक्तित्व फूठ उठता है। गुण कर्म के अनुसार इसी आदर्श के अनुसरण में कर्तव्य आचरण करके लोगों का व्यक्तित्व विकास पाता है। यही जगत् का स्थिर स्वाभाविक नियम है। और यहाँ इसी नियम को लक्ष्य किया गया है।

भगवान् अव्यय, यानी अविकारी है। कर्म और धर्म भी उनकी ही तरह नित्य, अपरिवर्तनीय है—यह आर्य का विश्वास है। जीवन में उसका आदर्श इसी प्रकार का है। धर्म के इस संयम में, विश्वतंत्र की इसी नित्य शृङ्खला में, वह अपनी स्वाधीनता का भोग करता है। इस में

ही उसकी विशृङ्खल इच्छा शक्ति संयत होती है, उसका चरित्र विकसित और प्रतिष्ठित होता है।

तो भी प्रवृति मनुष्य के लिये स्वाभाविक है:—

"इन्द्रियाणि प्रमाथीणि, हरंति प्रशमं मनः।"

अर्थात्—'बलवान् इन्द्रियां बलात् मन को आधीन करलेती हैं। मनुष्य स्वभावतः स्वेच्छाचारी होता है। स्वेच्छाचरिता मनुष्य के लिये सीखने की बात नहीं, संयम सीखना होता है। कल्पित आदर्श का संचय हमेशा दृढ़ नहीं रहता। उस आदर्श की धारणा कभी २ एक अनुपयुक्त बंधन के समान मालूम होती है। यह बंधन मनुष्य नहीं चाहता, इसलिये अपने लिये वह बंधन सृष्ट करके क़ानून तैयार करता है। आज इसलिये भिन्न २ देशों में कितने ही क़ानून हैं। राज्य का कानून समाज का क़ानून, सभा का कानून, दुकान का क़ानून, इस तरह कितने ही क़ानून रोज तैयार होते रहते हैं। सब कानून मनुष्य ही बनाते और स्वेच्छाचारिता से वे ही उन्हें तोड़ते हैं। आईन कानून का कोई आदर्श स्थिर नहीं रहता। उच्छृंखल मनुष्य के, अपने लिये, अपने क़ानून बनाने से यही फल होगा।

किंतु आर्य सभ्यता की नीति स्वतन्त्र है। आर्य का धर्म-भाव ही सब क़ानूनों का मूल है—सब संयमों का स्थान है। धर्म भाव ही स्वाभाविक स्वेच्छाचारिता का परम संयम है। वह धर्म उसका खुद का तैयार किया हुआ नहीं है, वह विधाता का नियम और निदेश है। वही धर्म, वही निदेश, वेद और आप्त-वाक्य से जाना जाता है। वेद और आप्त-वाक्य आर्य के समीप ईश्वर वाक्य हैं। उन पर तर्क नहीं है। संसार और समाज के चलने के लिये आप्त वचन में धर्म का

उपदेश है। वेद जिस तरह अपौरुषेय हैं, आप्त वाक्य भी वैसे ही निसर्ग-परम्परा के फल हैं। उन आप्त-वाक्यों में द्रष्टा, सिद्ध पुरुषों की पारम्परिक अनुभूति और विश्वास प्रकाशित हुए हैं।

तार्किकता से आप्त-वाक्य की नैसर्गिकता में विश्वास न करने पर भी, वह अपौरुषेय वेद-वचन के समान दृढ़, स्थिर और नित्य हैं—इस में अविश्वास करने का स्थान नहीं है। विचार करके, बहुत देखने के बाद, युग-युगांतर के अनुभव के द्वारा तुलना करके, किंवा पुरोदृष्टि के बल से सूक्ष्मदर्शी दूरदर्शी मनीषी लोग कल्पना करके, अथवा घटना के अवज्ञात प्रभाव से प्रेरित हो कर, फलाफल समक्ष कर जिन्हें नियम और धर्म मान कर निर्देश कर गए-वही आप्त वचन हैं। वह मनुष्य की सनातन अनुभूति का फल हैं। विधाता के विश्व-नियम में जो विशाल शृंखला की वाणी प्रतिक्षण प्रचारित होती है, वह उस वाणी के अज्ञात उद्वेग-मात्र हैं। मानव-जीवन की परम्परा में आप्त-वाक्य के रूप में स्वतः विश्व-नियम ही प्रगटित हुआ है।

तब और संदेह क्या बाकी रहा? स्वेच्छाचारिता निवारण के लिये, स्थिर नियम में रह कर सभ्यता और जीवन विकाश एवं वृद्धि के वास्ते, यह संयम का मार्ग आर्य की सामान्य अंतर्दृष्टि का फल नहीं है; विशाल पुरोदृष्टि ने भी, ज्ञात या अज्ञात-भाव से, इस में बहुत कार्य किया है। युगों-युगों के बीत जाने पर भी मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। उसके कितने ही सामान्य नियम स्थिर रहेंगे। उन सब नियम, धर्म या संयम के बीच में मनुष्य को स्वाधीनता का भोग करना होगा। क्या सुन्दर व्यवस्था है।

अवश्य ही इस प्रकार की नीरस, विश्वासहीन, प्रयोजनोपयोगी तार्किकता से आर्य ने अपनी धार्मिक धारणा नहीं तैयार की। अमुक करने से सुंदर और समीचीन, होगा, यह सोच कर वह कर्म के आचरण में नहीं प्रवृत्त हुआ। विश्व तंत्र उसकी अपनी कल्पना नहीं है। धर्म-बंध में उसे अहंकार नहीं है। व्यक्ति--विशेष की कल्पित या युक्ति-जन्य व्यवस्था को उसने कभी धर्म मान कर ग्रहण नहीं किया, उसकी धर्म-धारणा का विश्वास स्वाभाविक है। उसका विश्वास है कि सनातन सृष्टि-नियम की नाईं उसका अपना धर्म विधाता का निर्देश है--आप्त वाक्य ईश्वर-वाक्य हैं।

यह सर्ग-तंत्र-नियम ही आर्य की धर्म धारणा है। विधाता के विश्व-निर्देश का पालन उसका कर्तव्य है। विश्व के साथ वह इस धर्म के बल से एक है। इस धर्म-बल से ही विश्व सर्ग में उसकी यथार्थ उपयोगिता है। यह उसका अपना परम कल्याण है। इस में ही उसके लिये आत्म प्रसाद और चरम शांति है। विश्व तंत्र में अपनः प्रतिष्ठान ही परम पद है।

चतुर्थ अध्याय

आर्य जीवन का मूलाधार—आध्यात्मिकता

आर्यं का धर्म सनातन है। यह अनंत सृष्टितंत्र का अंगीभूत है। विश्वसंसार में प्रत्येक वस्तु, जंतु, व्यक्ति का जो निर्दिष्ठ कर्तव्य है, अज्ञात प्रेरणा से मनुष्य जिस कर्तव्य से प्रचोदित और प्रेरित हो रहा है। वही उसका धर्म है। आर्य दैनिक उपासना में कहता है:—

"तच्छवितुर्वरेण्यं, भर्गोदेवस्य धीमही।
धीयो योनः प्रचोदयात्॥"

अर्थात्—"अनंत विश्व के प्रसवित्ता जो विधाता, अपने इंगित से हम लोगों की बुद्धि का चालन करते हैं, उसी विधाता की महनीय दीप्ति का मैं ध्यान करता हूं।"

आर्य का विश्वास है कि सब कार्यों में विश्व-विधाता की प्रेरणा है। विश्व-विधाता के इंगित से ही सब सर्ग-तंत्र चलते हैं। मनुष्य-प्राण में

कर्म-प्रवाह उनके महनीय इंगित से ही प्रगट होता है। मनुष्य का कर्तव्य मानो उसी विश्व-तंत्र विधान का अंगीभूत है। मनुष्य विश्व-तंत्र से विच्छिन्न नहीं है। उस विश्व-तंत्र के मध्य में ही उसका निर्दिष्ट स्थान है। उस विश्व-तंत्र की परिचालना अक्षुण्ण रखने में ही उसका परम आत्मलाभ है। विश्व-नियम और विश्व धर्म में उसे जो आस्था, जो विश्वास है, वही आस्था, वही विश्वास उसे अपने धर्म, अपने कर्तव्य में है। इस तरह समस्त विश्व के अंदर उसका निजत्व और अपने भीतर विश्व-एकत्व है। विश्व के नित्य-नियम में उसे अविचलित विश्वास है। इसी पर उसकी धर्म-धारणा और कर्तव्य ज्ञान है। आर्य का इस विश्व-नियम में विश्वास उसकी आध्यात्मिकता को प्रमाणित करता एवं आर्य हृदय की विस्तीर्णता प्रगट करता है।

दूसरे को प्रेम करना मनुष्य का धर्म है—यह सब मानते हैं। पर के लिये आत्मोत्सर्ग कर देने में केवल महाप्राण व्यक्ति ही समर्थ होते हैं। जीवन की यथार्थ धारणा जिसके जितनी दृढ़ है, उतना ही वह दूसरे का दुःख, दूसरे का संतोष अपने भीतर देख सकता है। कोई परिवार के लिये, कोई समाज के लिये, कोई देश के लिये आत्मोत्सर्ग कर कृतार्थ होते और अपने धर्म का पालन करते हैं। किंतु आर्य की धर्म धारणा केवल परिवार, समाज, जाति, या देश के लिये नहीं है। फिर वह केवल मानव जाति के लिये भी नहीं है। वह तो यावदीय विश्व-ब्रह्मांड के लिये है और सब सृष्ट वस्तुओं में परिव्याप्त है।

आर्य में इस व्याप्ति की धारणा इतनी दृढ़ है कि वह नहीं मानता कि मरण में भी उसका आत्मोत्सर्ग हो जाता है। मरण में कुछ

विशेष आत्मोत्सर्ग है—यह वह नहीं समझता । आध्यात्मिक आर्य के समीप मरना साधरण-विश्व की एक घटना-मात्र है। मरण में आत्मा का उत्सर्ग नहीं होता। जन्म-मरण के बीचमें मनुष्यात्मा का किया प्रवाह समान भाव से जारी रहता है। धर्म को रखकर. कर्तव्य पालन में देहोत्सर्ग कर देना उन्नत जीवन की व्यवस्था मात्र है। इसलिये उसका विश्वास है कि जन्म के बाद जन्म जारी रहता है। जीवन की धारा व्यक्तित्व-मरण में परि-समाप्त नहीं हो जाती। कर्म फल को भोगने के लिये मनुष्य, जन्तु, वृक्ष यहां तक कि जड़ तक, सर्वत्र एक जीवन-धारा में अनवच्छिन्न भाव से चलता रह सकता है। कर्म-भोग के लिये आत्मा हर कहीं जन्म लेसकता है। कर्मफल से मनुष्य स्वेदज और मशक मनुष्य होता है; शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण म्लेच्छ होता है—यहां तक कि जीव, जड़ और जड़ चेतन होजाता है।

संसार अनंत है। आत्मा सर्वव्यापी है। इस जगत् में अनन्तकाल से, देहगत आत्मा का फलभोग जारी है। चर्वाक-वादी या असभ्य मनुष्य की कल्पना की तरह मृत्यु में आत्मा का विनाश नहीं हो जाता। ईसाई आदिधर्म मत के सदृश प्रमादमय, क्षणस्थायी इस नर-जीवन के कर्मके फल भोगने के लिये मृत्यु के परे अनन्त कालव्यापी स्वर्ग-सुख या नर्क-यंत्रणा का विधान नहीं हैं; कर्म का फल इस संसार से भिन्न स्वर्ग या नर्क में नहीं भोगना पड़ता। समस्त कर्मभोग इस संसार के बीच में हैं—यहां ही जन्मजन्मांतर में धर्म की अनवृत्ति और कर्म का परिपाक है।

एक ही जीवन के सुख दुःख के लिये आर्य विव्रत नहीं। जड़ से चेतन तक मशक से मानव तक, आर्य के लिये कुछ भी हेय नहीं। इसलिये

मरण से आर्य को लेश भी भय नहीं होता। विश्व-नियंता के राज्य में सब एक परिवार के कुटुम्ब रूप हैं। सबका जीवन अनंत है। कर्मफल से उसकी यह उन्नति या पतन होता है। उस कर्म-विपाक के नियंता हैं परमेश्वर। मनुष्य उसमें कुछ नहीं कर सकता। यह सच है कि कर्म कुछ परिमाण में मनुष्य के हाथ में है, यह सच है कि मनुष्य विश्व-विधाता के निर्दिष्ट के मार्ग का अवलंबन कर कर्म में स्वाधीनता भोग करता है; लेकिन इस स्वाधीनता से नित्य-नियम का भङ्ग करने से सृष्टितंत्र में व्यभिचार होता है। वह कर्म करता तो है, लेकिन उस कर्म का अनिवार्य विपाक निर्दिष्ट और स्थिर रहता है। मनुष्य परम पिता के इस धर्म पथ में रहकर कर्म करेगा। अपने नित्य कर्तव्य में प्रतिष्ठित रहकर मानवीय स्वाधीनता का भोग करेगा। धर्म के विधाता जगत परिवार-विश्व पिता, जगन्नियंता कर्म के सत्य-फल का योग घटायेंगे।

आर्य-प्राण की यह उदारता अव्याबाधित है। जीवन की क्रिया-पर्यालोचना करते समय वह समस्त विश्व को अपने कर्म में प्रतिबिम्बित देखता एवं अनुभव करता है कि उसके कार्य से समस्त विश्व प्रभावित होता है। सृष्टितंत्र में अपने यथार्थ स्थान को स्थिर करना ही उसका धर्म है—यही उसकी मानवता है। वह स्वयं विश्वतंत्र की परिचालना से भिन्न नहीं है। उसकी क्रिया से विश्व-विधान का व्याहत होना उचित नहीं, विश्वमें जैसे सब अपनी २ क्रियामें निर्दिष्ट हैं मनुष्य भी अपनी क्रिया में वैसे ही स्थिर भाव से नियोजित है। विश्व जगत् में छोटा बड़ा नहीं, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं, आदर और घृणा नहीं। सब अपने २ स्थान के लिये यथार्थ उपयोगी हैं। हर एक अपना निर्दिष्ट कर्मफल भोग करते हैं। सर्वत्र एक विधान—एक नीति है।

अतएव उदार आर्य का विश्वास है कि लोष्ट्र जिस विधान से नीचे गिरता है, उसी विधान, उसी न्याय से, राजा प्रजारंजन कर लोक पालन करता है, ब्राह्मण ज्ञानचर्या में आत्मोत्सर्ग कर, क्षत्रिय धर्म-प्राण-संकट में संग्राम कर, शूद्र सेवा कर, कृतार्थ होता है। हरेक अपने २ स्थिर कर्तव्य में रहकर विधाता की मंगलमयी इच्छा पूर्ण करता है। सब अपने २ धर्म में, अनंत विश्वतंत्र के एक २ आवश्यक उपादान हैं। कोई निरर्थक नहीं, और स्वतंत्र भाव से किसी का कुछ अर्थ या मूल्य नहीं। सब अविरत आंतरिकता के साथ कार्य करते हैं; किंतु कोई केवल अपने लिये काम नहीं करता। किसी ने स्वतंत्र भाव से कर्म के फल-भोग करने की वासना नहीं की। अपने २ धर्म में सब उस परम मंगल-मय विश्वपिता की क्रिया का ही समाधान करते हैं। सब कर्म करते हैं, किंतु उस कर्म में कुछ स्वतन्त्रता नहीं रखते। किसी व्यक्तिगत कामना से परिचालित होकर कोई काम नहीं करते। यही आर्य का निष्काम कर्म है। भगवान् ने कहा—

"मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय"

अर्थात—"मुझे ही मन अर्पण करो, मुझ में ही बुद्धि रक्खो,

"मय्यर्पित मनो बुद्धि र्यो मे भक्तः स मे प्रियः।"

अर्थात्—"जो सब कर्मों में अपना मन और बुद्धि मुझमें अर्पण करता है, वही मेरा भक्त वही मेरा प्रिय, है"। स्वाधीन भाव से कर्म का अनुष्ठान करना होगा, किंतु हमेशा लक्ष्य होगा—वही विधाता, वही ब्रह्म-ज्योति।

निर्दिष्ट कर्म ही धर्म है। वही कर्म 'ब्रह्मोद्भव' अर्थात् 'वेद से उत्पन्न' या विधाता के निर्देश है। कर्म में इस विस्तीर्ण विश्वास को

आर्य के सिवाय किसी और ने कार्य में प्रमाणित नहीं किया। कर्म सबही करने होंगे लेकिन हर समय ध्यान रहेगा यह कि वे कर्म विधाता के लिये हैं। विश्वपरिवार के पिता विधाता, जो आदेश करते हैं मैं वही कर रहा हूं। मैं अपना कर्माचरण कर रहा हूं—कर्म का फल कुछ भी क्यों न हो, उससे मुझे क्या? मेरा यह धर्म है, मेरे इसे करने से विधाता की इच्छा पूर्ण होगी। और धर्म ढूंढने से मुझे क्या प्रयोजन? फल ढूंढने की मुझे आवश्यकता ही नहीं। भगवान् ने कहा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, माफलेषु कदाचन
मा कर्म फल हेतोर्भूः, माते संगोस्त्वकर्मणि।"

अर्थात्—"हे मनुष्य, कर्म में तेरा अधिकार है फल में नहीं। फल क्या होगा, इसकी भावना करके कर्म में मत प्रवृत्त हो, यों अकर्म मत आचरण कर।"

फल का ख्याल रखकर कर्म करने से,स्वधर्म भूलकर अधर्म करजाने की आशंका रहती है। दृष्टांत स्वरूप क्षत्रिय जब यह भावना करता है "मैं क्यों युद्ध करूं? शायद मुझे नरहत्या करनी होगी। या मेरे प्राण चले जायेंगे,......इस युद्ध में मुझे क्या लाभ?"—तब वह धर्म से स्खलित होता है। वह अकर्म करता है। इस लिये कर्म की फल-गणना में मनुष्य की वृथा अहंकार के लिये, आर्य धर्म में अवकाश नहीं है। फल जो भी हो—धर्म के लिये उसे कर्म करना ही होगा।

ये सब धर्म धारणा और कर्मवाद आर्य के दर्शन सिद्धांत ही नहीं हैं—उसके दैनिक अभ्यास में भी यही देखा जाता है। समस्त विश्व

तंत्र में वह हमेशा अपने आप को अनुभव करता है और इस विश्वास से विधाता के लिये कर्माचरण करता है। सदा वह अनुभव करता है कि—

"ईशावस्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।"

अर्थात्—इस जगत में जो कुछ है, सब विधाता, परमात्मा के द्वारा, आच्छादित है? मनुष्य पशु, पक्षी, चर, अचर, सब में वह परमात्मा विराजित रहते हैं।

इस लिये जगत् की प्रत्येक क्रिया तथा अपने प्रत्येक अंगचालना में आर्य विधाता के दर्शन करता है। उसके दैनिक कार्यों का अनुसंधान करने से भी यही पता लगता है। वैदिक ऋषि सोमरस, देवता को दिये बिना नहीं पीते। वैदिक आर्य संतान कोई भी कार्य ईश्वर भाव को परे रख कर, नहीं करते। बैठना, उठना, खाना, सोना, स्नान आदि कामों से विद्याध्ययन करना, राज्यशासन करना और जन-सेवा करने तक—सब कर्मों में उसके ईश्वर रहते हैं। इसीलिये केवल-धर्म-प्राण अध्यात्म-संवर आर्य का कोई प्रार्थना समाज नहीं, गिरजा या कोई उपासना मंदिर नहीं। जीवन के प्रत्येक कार्य, यहां तक कि प्रत्येक निश्वास-चालन में जो ईश्वर सत्ता को, परमात्मा के नित्य अस्तित्व को अनुभव करता है, प्रतिक्षण जिस का जीवन ईश्वर-भाव-मय है उसे निर्धारित क्रम से ईश्वर-स्मरण या उपासना करने की आवश्यकता नहीं हुई।

आर्य की धारणा है—ईश्वर सर्व व्यापी है; अनंत विश्व-तंत्र, ईश्वर से जीवित और चालित है, विश्व जगत उनका विग्रह है; क्रिया-राशि उनका इंगित है। वह हमेशा हर जगह ईश्वर ही देखता है।

साधारण लोगों के मन की दृढ़ता और भाव के स्थायित्व के लिये कोई भी लकड़ी-पत्थर की देवमूर्ति उसके लिये ईश्वर हो सकती है—वह उसे पूज सकता है। घर में देवमूर्ति रख कर ग्रहस्थ प्रत्येक कार्य से ईश्वर-स्मरण को दृढ़ और मजबूत बना सकता है। उसमें आर्य संतान का धर्म नाश नहीं हो जाता। हमेशा हर-एक कर्तव्य में जिसका ईश्वर है, उसे रविवार या किसी खास दिन या निर्दिष्ट स्थान पर या पद्धति से ईश्वर-पूजा करने का प्रयोजन नहीं। आर्य संतान के लिये कभी वह जरूरी नहीं हुआ। लोक-व्यवहारसे मूर्ति-पूजा चल सकती है। भक्तिसे देवताओं को अपने समान वस्त्रालंकारों मे भूषित किया जा सकता है, यहां तक कि बलि भी दी जा सकती है। इस लिये आर्य के लिये कोई खास विधि-निषेध नहीं है, कोई रोक-टोक की बात नहीं है। केवल व्यवस्था है—

"ये यथा मां प्रपंद्यतेतांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्तानुवर्तं ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

अर्थात्—"जो मुझे जिस रूप से पाने की इच्छा करते हैं, मैं उन्हें उसी रूप से मिलता हूं। सब तरह से मनुष्य मेरे ही निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं"।

भगवान् सर्वत्र हैं। उनका स्थान, नाम, काल, रूप नहीं है। सब स्थान, काल, नाम, रूप उनके इंगित से उनके आदर्श में वर्तमान है और उनकी ही ब्रह्मज्योति से पूर्ण हैं। कहीं भी भेद समझना पाप है।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञान मयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्मनामः रूपमन्नं च जायते॥"

अर्थात्—"जो सब जानते हैं, सब अनुभव करते हैं, जिनकी क्रिया ज्ञानमय है, उस से ही ये सब नाम-रूप आदि उत्पन्न हैं।"

सब उनके स्वरूप से पूर्ण हैं। इस लिये आर्य ने कहीं भी भेद-ज्ञान नहीं किया। कहीं भी ईश्वरारोप करने से उसे घृणा या अनादर नहीं। किसी लोक व्यवहार में उसे धर्म हानि का भय नहीं, जो जिस भाव से भी चाहे उपासना या पूजा करे। अपने धर्म में रह कर प्रत्येक कार्य में ईश्वर स्मरण करना, जगत् मय ईश्वर-सत्ता का अनुभव करना, निर्दिष्ट कर्म में प्रवृत्त होना—आर्य का उद्देश्य है। समस्त कर्म फल को ईश्वर में अर्पण कर आर्य धर्म-साधन के अर्थ सृष्टि तंत्र के नित्य क्रिया-विधान में, अपनी धर्म साधना करते हैं।

इस धर्म नीति में चित्त को दृढ़ रख कर सृष्टि की व्याख्या करने में आर्य स्वाधीन है। दर्शन के सिद्धांत में उसकी कोई निर्दिष्ट शृंखला या विधिवत् नियम नहीं है। सिर्फ इतनी ही शृंखला है कि उस मत-वाद से मनुष्य-धर्म की हानि न हो, श्रुति-निर्देश उल्टा न हो, आप्त वाक्य का ग़लत अपलाप न हो—स्थूलतः सनातन नित्य धर्म की ग्लानि या अपचार न हो। मतवाद कुछ भी हो—धर्म नित्य है। किंतु उन सब मतवादों में इस नित्य धर्म का व्यभिचार या अपचार नहीं होना चाहिये। इस नित्यत्व की व्याख्या ही सब मतवादों का मेरुदण्ड है। धर्म के इस नित्यत्व में स्थिर रह कर आर्य ने अपने अधिकार के अनुसार श्रुति-वाक्य में निहित विश्व—तत्व का समाधान किया, अपने जीवन की सनातन आध्यात्मिकता जान लेने की चेष्टा की, जीवन के अर्थ को उघाड़ देखने का प्रयास किया।

इस जगह, जगत के अन्यान्य धर्म और मतवादों पर दृष्टि डाललेना अप्रासंगिक न होगा। उन सब धर्मों में सनातन का स्वाभाविक आत्म विकास या धर्म धारणा नहीं है। समाज की विशृङ्खला, लोकचरित्र की स्वेच्छाचारिता, और मनुष्य के धर्म नाश के समय किसी २ व्यक्ति ने अपने मतवाद और व्यक्तिगत विश्वास का प्रचार किया। लोग उसी प्रचारित मतवाद को निर्देश मानने लगगये। उन सब मतवाद-रूप धर्मों में विश्वतंत्र की सनातन धारणा के दृढ़ बने रहने की आशा नहींकी जाती। जहां व्यक्ति स्वातन्त्र्य का प्राधान्य है, वहां सांत और प्रमाद मय मनुष्य का अहकार है;इसलिये कोई भी धर्म-मतवाद हो, उसमें धर्म के साथ अनेक अस्वाभाविक और अनुदार क्रिया-कलाप का शामिल हो जाना स्वाभाविक है।

पृथ्वी में फैले हुए धर्मों में ये सब लीलाएँ ठौर २ दीख पड़ती हैं। ईसाई और मुसलमान धर्म में ईश्वर-धारणा कितनी भी व्यापक और विश्वतोमुखी क्यों न हो, उसमें व्यक्तिगत अहंकार की सत्ता बने रहने से वे सब एक देश-दर्शी हैं। प्रतिमा पूजा इन धर्मों में दुर्विसह्य अपराध है, वह मानो पाप है। इन धर्मों में मनुष्य निर्दिष्ट स्थान और निर्दिष्ट काल पर उपासना करने को बाध्य है। उपासना के समय हाथ पैर धोना और मक्का की ओर दृष्टि रखना भी मुसलमान का एक धर्म कार्य है। यीशु क्रीस्ट ने दरिद्र को एक रोटी खिलाई, इस लिये इस रोटी खाने को ईसाई धर्म-कार्य मानते है। इस तरह इन सब धर्मों में ऐसी मामूली २ बातों के प्रति जितनी दृष्टि दी जाती है, ईश्वर या सृष्टि व्याख्या की ओर उतनी दृष्टि नहीं दी जाती।

उन सब धर्मों में मनुष्य की स्वाधीनता ठौर २ पर रोक दी गई है। इतिहास इसका साक्षी है। उन सब धर्मों में विधर्मी मान कर धर्म के नाम से लोगों पर जितने अपचार, व्यभिचार, रक्तपात और दौरात्म्य हुए हैं—इतिहास पाठक जानते हैं। वैसा होना स्वाभाविक है। प्रमाद-ग्रस्त मनुष्य महामनीषी और महापुरुष हो सकता है, पर जब धर्म धारणा उसके निर्देश में ही परिबद्ध और सीमायुक्त हो जाती है तब शिष्य-लोग असहिष्णु हो जायँगे—इस में असम्भव भी क्या है। धर्मोंके प्रवर्तक जब ईश्वर माने जाते हैं तब उनका ऐहिक क्रिया कलाप भी ईश्वर का क्रिया कलाप है, साधारण लोग ऐसा मानने लगेंगे इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं। वस्तुतः यही हो रहा है, इस व्यक्ति-भक्ति से ही तो मनुष्य ने धर्म नाम से, असहिष्णु होकर, अपचार किया है।

विश्व-तंत्र के नियम में आर्य ने विशाल स्वाधीनता अनुभव की, विश्व-ब्रह्मांड के साथ अपने को एक मान कर, कर्म को स्थिर करने में दृढ़ बने रह कर, आर्य ने अनंत विश्व-लीला के भीतर उदार आत्मबोध अनुभव किया. स्थूलतः आर्य संतान विश्वैकत्व भाव से आत्मत्व करने में समर्थ हुआ। व्यक्ति के राजतंत्र में, व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्य में या व्यक्ति द्वारा आरोपित धर्म नीति में मनुष्य वह स्वाधीनता वह आत्म बोध, वह आत्म लाभ कैसे पायेगा ?

इस आर्य भूमि में बौद्ध धर्म की बात की ओर भी तनिक दृष्टि पात करलें। बौद्ध-धर्म में रक्त पात नहीं, उदारता का अभाव नहीं। उसके विस्तीर्ण साम्य और समप्राणता को विश्वव्यापी कहें, तो भी कुछ हानि नहीं। किंतु वहां भी व्यक्ति के उस आधिपत्य ने आर्य धर्म की

मुक्त स्वाधीनता में बाधा पहुंचाई है। बुद्धदेव इस आर्य जाति की संतान थे, आर्य धर्म में प्राणित, आर्यनिष्ठा में प्रति पालित और आर्य आदर्श में गठित थे, अवश्य किंतु समाज की विशृंखला देख कर उन में उचित अहंकार उदय हो आया। बहुत अंश में वेद के सनातन धर्म में अधिष्ठित होने पर भी, वह स्थूलतः उस धर्म से विच्छिन्न हो गये। उन्होंने धर्म की परम्परा को ध्यान में न रख कर, अपना ही ज्ञान जगत् में फैला डाला।

बुद्धदेव के जीवन से पता चलता है कि जरा, दारिद्र्य और मृत्यु देख कर उनके प्राणों का धक्का पहुंचा; यहीं उनकी पहिली भ्रांति है। जरा, दारिद्र्य, मृत्यु, हरेक. मंगलमय महा विश्व-तंत्र की एक २ निर्दिष्ट विधि है—उन्होंने यह नहीं समझा। उन्होंने मनुष्य को दुःखमय मान लिया। जरा. दारिद्र्य मृत्यु से मनुष्यों का उद्धार करने का उन्होंने प्रयास किया। कल्याणमय विधाता का कल्याण ग्रहण करके उसका प्रति विधान करने का प्रयत्न किया--यहीं अहंकार परिस्फुट है। अवश्य आदर्श-त्यागी, महामहिम, उदार प्राण बुद्धदेव पृथ्वी के धर्म प्रचारकों में श्रेष्ट हैं. उन सरीखा निरवलम्ब, स्वार्थ-हीन, कर्म-मार्ग पृथ्वी पर और किसी धर्म प्रचारक ने बताया या नहीं, इस में संदेह है। इस में बुद्धदेव या उनके समधर्मी हिन्दू धर्मप्रचारकों की निंदा नहीं की जाती। उन्होंने तो मनुष्य के कल्याण के लिये आत्मोत्सर्ग किया, समाज का अपचार अनुभव कर,. विधाता के विध निदेश का लोगों में प्रचार करने के लिये यत्न किया। किंतु व्यक्ति विशेष के प्रचारित धर्म में आर्य धर्म की सार्वजनीनता रहना सम्भव या स्वाभाविक नहीं है--कहने का यह ही मतलब है।

रक्तमांस-मय शरीर में जितने दिन मनुष्य ढंधा हुआ है उतने ही दिन उसका व्यक्तित्व-भाव दृढ़ है। वह महा-प्राणता के बल से जीवन की सार्वजनिक शक्ति का अङ्गीभूत अनुभव कर सकता है; लेकिन शारीरिक क्रिया कलाप में सीमा बद्ध रहने की वजह से वह सदा ही व्यक्तित्व भाव के प्रति आकृष्ट होगा। इसलिये दर्शन में कहा जाता है कि अहंकार प्रकाशित होने से प्रकृति गुणमय होकर इस नाम-रूप-मय-चित्र-जगत् की सृष्टि करती है। सृष्टि के साथ अहंकार का नित्य सम्बन्ध है। मुक्ति में वह अहंकार नष्ट हो जाता है। सार्वजनिकता का अनुभव कर पुरुष मुक्ति की ओर जासकता है, लेकिन उसे तब जीवन्मुक्त कहा जाता है—अर्थात् देह में रहते हुए भी, व्यक्तित्व धारण करते हुए भी, वह मुक्ति अनुभव करता है। इसलिये व्यक्ति कितना भी जीवन्मुक्त हो, उसमें शारीरिक व्यक्तित्व के कारण अहंकार की छाया जरूर रहेगी ही।

इसलिये बुद्धदेव मृत्यु के सोच में पड़कर, मृत्यु में संभवतः अमृत नहीं देख सके। मृत्यु के परे का जन्म उन्हें असह्य हुआ, इसलियेउन्होंने निर्वाण की व्यवस्था की। आत्मा मृत्युमें भी अमृत में प्रवेश करता है—यह उन्होंने नहीं कहा। मृत्यु की विभीषिका में मनुष्य को त्रस्त देखकर उन्होंने, मानों, कहा—"मनुष्य! मृत्यु ही अन्त है। मृत्यु के परे जन्म होता है,—यह ठीक, लेकिन कर्म-बल से उस जन्म को रोक देने से मनुष्य का अंत मृत्यु में हो जाता है। जरा, दरिद्रय, दुःख, मृत्यु, आदि से मुक्ति पाने के लिये तुम इसी निर्वाण, इस अशेष मृत्यु, इस चरम विनाश के लिये कर्म साधन करो।"

बुद्धदेव के प्रचारित धर्म का यह कर्म विभाव आर्य धर्म की परम्परा से लिया गया है; लेकिन 'दुःखनाश में निर्वाण' आर्यधर्म से

विच्छिन्न हैं। मोटे रूप में, इस दुःख-नाश के अर्थ, निर्वाण-कामना ने बौद्धमत को एक व्यक्तिगत मतवाद में परिणत कर दिया। पारम्परिक कर्म-वाद से बौद्ध-धर्म में यथेष्ट सार्वजनिकता प्रकाशित हुई। बौद्ध ने विशाल उदारता से विश्वजगत् का आलिंगन किया। जड़-चेतन, उद्भिज से देव-मनुष्य तक, सर्वत्र बौद्ध का प्रचुर-प्राण। परिव्याप्त है-सच, लेकिन व्यक्ति का दुःखनाश और और निर्वाण प्राप्ति ही इस सब विश्वजनीन उदारता का केन्द्र है। इसमें आर्य की विश्वतंत्रैक बुद्धि नहीं है। विश्व नियम में मनुष्य के आत्मलाभ के बदले मानों बौद्ध ने, विश्व से विच्छिन्न होकर आत्मनाश कर दुःख से मुक्ति पाने की कामना की है। व्यक्ति-प्रचारित धर्म बहुत उन्नत और उदार हो सकते हैं, लेकिन उनमें आर्य की विश्व-तंत्रैक धर्मधारणा, आर्य नीति की विशाल उदारता और विश्वैक बुद्धि का प्रगट होना स्वाभाविक नहीं। व्यक्ति-प्रचारित-धर्म सार्वजनिक स्वतो विकसित मानव धर्म या आदि धर्म का एक विभाव ही प्रकाश कर सकते हैं। इसलिये व्यक्ति प्रचारित धर्म की निर्दिष्ट क्रियाराशि में सार्वजनिक उदारता और आत्मबुद्धि का रहना उस प्रकार संभव नहीं है। आर्य धर्म सुविशाल और अनन्त है। ईसाई मुसलमान, बौद्ध-धर्म सब उसके एक २ अङ्ग मात्र हैं। मुसलमान का एकेश्वर-वाद ईसाई की द्वैत बुद्धि-भक्ति, और निर्वाणेच्छु बौद्ध की कर्म साधना इनमें से कुछ भी आर्य धर्म के लिये हेय नहीं है। आर्य किसी के प्रति भी असहिष्णु नहीं है। कोई भी निर्दिष्ट क्रियाविधान आर्य-धर्म नीति के लिये घृण्य नहीं है।

आर्य का जगत् ईश्वरमय है। मनुष्य मानों सदा विधातृ निदेश से काम करता है। वह अकाट्य निदेश ही उसका धर्म है—यह भक्त की

वाणी है। भक्त ईश्वर के आदेश में अपना मंगल देखता है—उसे अहं-कार नहीं। वह ईश्वर की सम्पूर्ण दासता अवलम्बन करने से कृतार्थ होता है। वह ईश्वर से भिन्न है; किंतु किसी भी क्रिया में वह अपनी भिन्न सत्ता या स्वातंत्र्य रखने की इच्छा नहीं करता। आर्यधर्म का यह एक विभाव है यह वैष्णव भाव है। इस दास्यभाव में, वैष्णव अपना नित्य निर्दिष्ट धर्म पालता है। अपने कर्तव्य में अपनी कोई आसक्ति या कर्तृत्व बुद्धि न रख कर सब ईश्वर में अर्पण कर वह कृतार्थ होता है। उसका अस्तित्व और ईश्वर अस्तित्व भिन्न होसकते हैं—लेकिन उनमें पार्थक्य नहीं है। वह उपासना करता है लेकिन उस उपासना में अहंकार नहीं। उसकी आत्मा में विश्वमय ईश्वर का अधिष्ठान है। उसके अपने जीवात्मा के सिंहासन पर परमात्मा विधाता की प्रतिष्ठा है। फलतः दोनों एक धर्मी एक स्वरूप हैं। जीवात्मा, परमात्मा का कोई भेद-उसका उद्देश्य नहीं है; समन्वय ही उसकी आकांक्षा है।

विशिष्ट अद्वैतवाद आर्य धर्म व्याख्या का और एक विभाव है। विशिष्ट अद्वैत वादी लोग इस समन्वय की आकांक्षा करते हैं, यह सच है, लेकिन उनके मत में ईश्वर का धर्म ईश्वर ही करते हैं। ईश्वर या ब्रह्म, इस नामरूप-मय अनन्त सृष्टि के मध्य में आत्म विकास और आत्मलाभ करते हैं। जीवात्मा भी इस नाम-रूप-मय सृष्टि से पृथक् नहीं है; अतएव वह ब्रह्म पदार्थ से भिन्न नहीं है। यह जीवात्मा अपनी २ नित्य निर्दिष्ट धर्म-साधना के द्वारा उस परमात्मा के भगवत्-आत्मलाभ में सिर्फ साहाय्य करता है। जीवात्मा उसी ब्रह्म विकास का अंश है। अपनी स्वधर्म साधना में वह मुक्त परमात्मा का आत्मलाभ पूर्ण करता है। उसका

अपना अस्तित्व स्वतंत्र होने पर भी, उसमें प्रकृतिगत स्वातंत्र्य या अभेद नहीं है। जीवात्मा, परमात्मा एक वस्तु है। विशिष्ट अद्वैत वादी स्पष्ट करता है—"इस जीवात्मा के कर्मफल से मुक्त होजाने पर परमात्मा के साथ जो समन्वय होता है उसमें और अभेद नहीं रहता। जीवात्मा परमात्मा एक होजाते हैं—दोनों का पूर्ण एकत्व साधित होता है।"

अद्वैतवादी का और कुछ अवलम्बन नहीं है। उसके मत से अविद्या, माया या अज्ञान के सम्पर्क से ब्रह्मका आत्म-प्रकाश ही सृष्टि है। कर्मफल से माया की मलिनता या अज्ञान दूर हो जाने से मोक्ष होता है। इससे जीवात्मा परमात्मा का समन्वय, एकत्व संभव नहीं—क्योंकि उनमें कुछ भेद ही नहीं। ब्रह्म पदार्थ के स्थान, विभाग और काल में पूर्वापर नहीं है। फिर भेद कैसे संभव है? अनंत विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने २ धर्म में आत्मलाभ करती है--मनुष्य भी इसी तरह आत्म-लाभ करता है। मोक्ष में सबके पूर्ण ब्रह्म का विकास है। जैसे प्रत्येक मनुष्य में, उसी तरह तमाम सृष्टि में ब्रह्म आत्मलाभ करते हैं। मनुष्य का कर्म या धर्म किसी अन्य ईश्वर का आदेश नहीं है—वह अपना ही धर्म है। इसमें अपना ही मोक्ष साधन होता है। सिर्फ धर्म या ज्ञान बल से अविद्या के दूर हो जाने के कारण 'अपना' कर्तव्य, 'अपना' मोक्ष यह भाव नहीं रहता। व्यक्ति का अज्ञानजनित अहंकार विश्वमय आत्मा में पूर्णभाव से उद्भासित होता है—जाहिरा भेद बुद्धि मिट जाती है।

इन मतवादों में उत्कर्ष-अपकर्ष विचार करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। ऐसे स्थूल कथन में वह हो भी नहीं सकता। तो इतना ही कह देना कि जीवात्मा के साथ चाहे समन्वय हो, या एकत्व या अभेद, ईश्वर-पदार्थ की किसी प्रकार की भी धारणा से सनातन धर्म की क्षति

वृद्धि नहीं होती; आध्यात्मिकत्व खंडित नहीं होजाती। जीव और ईश्वर में व्यक्ति अपर-बुद्धि नहीं रखता, बाध्य होकर वह दूसरे का आदेश नहीं पालता।

अन्य का आदेश बाध्य होकर पालन करने का भाव होने से व्यक्ति की आत्मा शृङ्खला में आवद्ध होकर संकुचित होसकती है। मुझे जो कर्तव्य मिला है, उससे मेरा यदि कुछ साक्षात् सम्बन्ध न हो, मेरे लिये उसकी कुछ उपयोगिता न हो, तो वह मेरे समीप शुष्क और नीरस होजाता है। अर्थ न समझ कर कार्य करने से, कर्म के प्रयोजन में आसक्ति तो रहे या न रहे, कर्म के साथ स्वाभाविक सहानुभूति तो नहीं ही रहती। एवं कर्म में सहानुभूति न रहने से मनुष्य एक जड़पिंड—एक कल—रहजाता है। आर्य ने ऐसे जड़पिंड या कल की नाईं कभी सूखे कर्तव्य में ही जीवन नहीं बिता दिया। उसकी धर्म धारणा किसी कठोर शुष्क आदर्श के अनुसरण में नहीं बँधी रही इस प्रकार का कठोर शुष्क आदर्शानुसारी एक दार्शनिक दल है। उसको अंग्रेजी में रेशनलिस्ट Rationalist कहते हैं। उनके मत से, शुष्क हो या सरस—आदर्श का तो अनुसरण करना ही होगा। आर्य की धर्म साधना उनके आदर्श अनुवर्तन के सदृश नित्य औषधिसेवन नहीं है। उसकी कर्म-प्रेरणा, आदर्श की चाबुक मार नहीं है।

आर्य धर्म आत्मलाभ की सरसता से पूर्ण है। किसी के ईश्वर के साथ समन्वय में आत्म लाभ, किसी का एकत्व में, किसी का अविद्या के आवर हट जाने में आत्मलाभ होता है। जगत् को ईश्वर-मय मान कर अपने धर्म में, आर्य ने सब प्रकार से ईश्वर को आत्म समर्पण

दिया था। भक्ति मार्ग के स्वभाव-सरल-आत्म दैन्य के अनुकरण में लोक व्यवहार में, 'ईश्वर का निदेश' 'विभु का आदेश' आदि प्रचलित हैं, यह ठीक, लेकिन इन सब में आर्य-प्राण का परमादर्श वही आत्म लाभ है। फलतः जो ईश्वरीय सत्ता समस्त चराचर जगत् में व्याप्त है, जिस की चिर जीवन्त ज्योति में विश्व-ब्रह्मांड है देदीप्यमान है, वही सत्ता मुझ में पूर्ण विराजित है—या मैं उसी सत्ता के साथ एक हूंगा, या मिलूंगा उसी सत्ता में मैंने अपनी आत्मा समर्पण की; मेरी आत्मा में उनके अधिष्ठान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लिये भक्त कवि ने गाया—

"दूर देवालय में जाने का प्रयोजन क्या ?
"आंखें खोले देख इस भीतर के अंतर में;
"हृत्कैलाश में ही झरना वह प्रेम का
"है, करते निवास स्वयंभू शंकर जिस में"

विश्व सत्ता-रूप-वही स्वयंभू-शंकर मेरा आत्म पुरुष है, या मेरी आत्मामें उसका निवास है। वह आत्मपुरुष ही सृष्टि का मूलाधार है। उनके नियम से, उनके निदेश से, सृष्ट वस्तु का धर्म निर्दिष्ट है। संसार के बंधन में, अविद्या के आवरण के भीतर मैं उस आत्मा को विमल भाव से अनुभव कर सकूं या न कर सकूं—मेरे भीतर, सृष्टि की विचित्रता-सम्पादन केलिये, अपना धर्म स्वयं ग्रहण करने के लिये, वही आत्म पुरुष, वही ब्रह्म-ज्योति विराजित है। तमाम सृष्टि-सत्ता खोजने पर मैं जिस आत्म पुरुष का परिचय पाता हूं, अनंत विश्व जिस के द्वारा जीवित है, मेरे अंदर वही, कीचड़ में कमल जैसी, विराज रही है। भीतर झांक कर देख सकने

से उसी को देखूंगा। आर्य के अपौरुषय वेद यही प्रमाण करते हैं— आप्तवाक्य यही स्वीकार करते है।

इस प्रकार निर्मल अध्यात्म भाव से आर्य ऋषि ने विधाता के निदेश को अपना कर्तव्य, अपना धर्म समझा। धर्म में इस प्रकार निजत्व आनें से आदर्श में शुष्क कठोरता नहीं रहती। आत्मा मानो धर्म के संयम द्वारा अपने कर्म को स्वयं साधन करती है। बाध्य-बाधकता की अरुचि नहीं है, तौभी कर्तव्य दृढ़ और स्थिर है। आर्य स्वाधीन आचरण करके विधाता का निदेश पूर्ण करते हैं—दूसरी भाषा में आत्म-लाभ करते हैं। सृष्टि में आत्म-व्यास करके ईश्वर 'सर्व-भूत' के 'हृद्देश' में अवस्थित हैं। जितनी भर सृष्ट वस्तु हैं, अपने २ कर्तव्य या धर्म में रह कर ईश्वर का यह सृष्टि-रूप आत्म-विकास सम्पन्न करती है, सृष्टि की क्रिया चलाती हैं। इस प्रकार अनंत सृष्टि में परमात्मा प्रकाशित होकर आत्म लाभ करते हैं। आर्य का विश्वास है कि वह उस निज धर्म में आत्म-लाभ करेगा। इस लिये आर्य का धर्म एक ओर जैसा ईश्वर का निदेश है दूसरी ओर वैसा ही आत्मधर्म या स्वधर्म है। स्वधर्म से तात्पर्य है विश्व-तंत्र में अपना निर्दिष्ट धर्म या कर्तव्य, एवं विश्वात्मा तथा जीवात्मा के आत्म लाभ के लिये धर्म या कर्तव्य। इस प्रकार स्वधर्म का द्विविध अर्थ एक और अभिन्न है।

आर्य का महा कर्तव्य, उसका धर्म, और संयम आत्मलाभ का मार्ग है। आर्य ऋषि ने स्पष्ट गाया—

"आत्मानं रथिनं विद्धि: शरीरं रथमेवतु,
"बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मे च,

"इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान् ।
"आत्मेन्द्रिय-मनो-युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ॥

अर्थात्—जैसे रथी, सारथी और अश्व आदि के द्वारा, प्रकृत मार्ग से गन्तव्य स्थान पर पहुंचता है, उसी तरह धर्माचरण में आत्मा को रथी मानों। शरीर उस में रथ है, बुद्धि सारथी, अक्षु-कर्णादि इन्द्रियां अश्व, मन पघा, और इन्द्रिय-ग्राह्य या भोग्य वस्तु (समस्त विषय) मार्ग हैं। इस प्रकार इन्द्रिय-मनो-युक्त जो आत्मा है वह भोक्ता अर्थात् सुख, दुःख आदि फल का अधिकारी, है। इन सब को संयत कर मोक्ष, या ? आत्म लाभ, पाना होगा—यही ज्ञानी बतलाते हैं।

इस प्रकार आत्म संयम से धर्म करने, कर्तव्य-निरत होने पर, आत्म-ज्ञान होता है। अतएव आर्य धर्म सिर्फ विधाता का निदेश नहीं—उस में सम्पूर्ण निजत्व है। इस प्रकार धर्म-कर्तव्य में प्रतिष्ठित रह कर आर्य विमल स्वाधीनता का भोग करता है . उस में गुरु के उपदेश या निदेश सरीखी कितनी ही जाहिरा लाचारी रह सकती है, लेकिन वह, परिणाम में, अमृत के समान सरस है। जब आत्मकल्याण का ज्ञान नही होता तब, साधारण लोक व्यवहार में, कभी २ ऊपर से नीरस सा भी मालूम पड़ने लगे, पर परिणाम में प्रीतिकर और संतोष विधायक ही हैं। दूसरेके आधीन बाध्य होकर कर्म करते समय उसके निर्मम भाव से जो उसका आदेश पालन किया जाता है। यह आदेश उस तरह का कठोर और पर-राज्य के कर्तव्य के समान शुष्क नहीं है. ऋषि ने इसलियेगाया।

"यस्त्वात्म वान् स एव स्वराट् भवति।"

अर्थात्—"जो आत्मवान् हैं वही स्वराट् है।" जो आत्मलोभ करता है—वह स्वराज्य पाता अर्थात् स्वयं अपना राजा होता है—समस्त बंधन से मुक्त होजाता, परम ब्रह्म-ज्योति में प्रतिष्ठित होता है। आर्य धर्म-मार्ग का अनुसरण कर परम ब्रह्म में प्रतिष्ठित हुआ; उसने अपने को विश्व परिवार की संतान अनुभव किया, समस्त विश्व-तंत्र का शुद्ध प्रीतिकर और स्पष्ट आभास अपने भीतर देखा। विश्व-एकत्व भाव की हृदय में धारणा कर आत्मलाभ करने का अभ्यास, उसके प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक शरीर-चालन में, यहां तक कि प्रत्येक निश्वास न दीख पड़ा है।

यह विस्तीर्ण भाव ही प्रकृत आर्य-भाव है। यह गम्भीर और व्यापक आध्यात्मिकता आर्य-जीवन की मूलाधार परम-पीठ है, आत्म-व्याप्ति का अधिष्ठान है। धर्म और कर्तव्य-निरत आर्य-प्राण की यह आध्यात्मिक व्यापकता सरस आत्मभाव, और आत्म निवेश ही आर्य का आर्यत्व है। आत्मसमर्पण में आर्य का आत्मलाभ है; आदेश-पालन में आर्य का स्वधर्म है। यह उसका दर्शन सिद्धांत नहीं, युक्ति का खेल या तर्कवाद का अहंकार नहीं—यह उसकी नित्य क्रिया है, इसमें ही वह जीवन धारण करता है।

पंचम अध्याय

आर्य जीवन की साधना—आत्म प्रसार

वन साधना-मय है; साधना से सिद्धि होती है, उद्देश्य साधित और आदर्श प्राप्त होता है। आर्य भूमि में यह कोई नई बात नहीं है। व्यक्ति जीवन में, परिवार में, समाज में—सर्वत्र—आर्य जीवन साधना-मय है।

ब्राह्मण के जीवन को समाज का आदर्श मानो, तो देखोगे कि, इस सुबह से अगले सुबह तक उसका क्रिया-कलाप अनवच्छिन्न भाव से बँधा हुआ रहता है। आलस्य या अपचार का अवकाश उसमें नहीं। केवल ब्राह्मण के विषय में ही क्यों? सब ही के जीवन में इस प्रकार कर्म-साधना का मार्ग निश्चित है। इन सब को वर्ण धर्म कहते हैं। ये तो, समझो, प्रति दिन की क्रिया हैं। इस के बाद समस्त जीवन को साधना-परम्परा में बांध रखने के लिये आश्रम-धर्म की विधि है। आर्य, जीवन में चार आश्रम बांध कर, उसे किस प्रकार सतत क्रियावान् और उपयोगी बनाया गया है—सब जानते होंगे। पहिले

विद्याभ्यास करने का विधान; उसके बाद संयत सामाजिक गार्हस्थ्य; फिर वाणप्रस्थ में आत्मोन्नति के लिये योग और धर्माचरण अभ्यास;और सब के बाद निर्मुक्त भिक्षु की जन-सेवा। आर्यने इस समस्त महा-साधना-परम्परामें जीवनगढ़ने की व्यवस्था कर रक्खी है, समस्त जीवन को कर्तव्य की चिर-साधना-भूमि बनाया हुआ है। धर्म के अभ्यास और ईश्वर-पदार्थ के अवबोध के लिये, वेदांत तत्व के उपदेश में, ज्ञान-योग के अभ्यास और कर्म-योग की साधना से लगा कर जन-साधारण के लिये पुराण की रुचि-कर अख्यायिका तक, नाना भाव से नीति का प्रचार और अभ्यास इस भूमि में चिर काल चल रहा है। आर्य कभी जीवन में लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं हुआ या लक्ष्यहीन हो कर नहीं चला। जीवन की समस्त प्रवृत्ति और कार्य-कलाप संयत कर उसने स्थिर आदर्श का अनुसरण किया और साधना में सिद्धि भी पाई।

आर्य-जीवन की धर्म धारणा के प्रसङ्ग में इन सब विषयों की ओर लक्ष्य किया गया था। लेकिन यहां उसी बात को साधना और सिद्धि के लक्ष्य-विन्दु से समझा देने की आवश्यकता है। आर्य-जीवन कर्तव्य मय है—कर्म से प्रगाढ़ है। आर्य ने जीवन की कर्तव्य राशि को ईश्वर का आदेश और विश्व-तंत्र का अंगीभूत मान कर हमेशा उसी के अनुसार अपनी क्रियाओं का विधान करने का अभ्यास किया है।

मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। स्वयं वास्तव में क्या पदार्थ है? या किस लिये वह पैदा हुआ है? विश्व की अन्यान्य वस्तुओं के साथ उसका क्या सम्बन्ध है?—ये सब बात वह सहज ही नहीं समझ जाता, समझने का प्रयास भी नहीं करता।

'मैं' "मेरा" "मुझे" कह कर वह स्वार्थ में चित्त लगाता है। वास्तव में उस स्वार्थ का कुछ अर्थ नहीं है। विश्वतंत्र से विच्छिन्न "मैं" जैसी कुछ चीज नहीं है। विश्वतंत्र में मेरा एक स्थान है—यह सच; विधाता की सृष्टि में मेरा कुछ स्वतंत्र कर्तव्य है—यह सच; लेकिन उस तंत्र से विच्छिन्न होने पर मैं कोई नहीं हूं-कुछ नहीं हूं। यह सब बात मनुष्य हर समय नहीं समझता। फिर, कभी दार्शनिक-विचार-प्रक्रिया से समझ जाने पर भी उस पर क्रियावान नहीं होता। इसे ही शास्त्र कार लोगों ने मोह, माया, अज्ञान आदि नामों से पुकारा है। इस अज्ञान से मुक्त होकर ज्ञान के अनुसार अपनी क्रिया विधान करने के लिये मनुष्य को चेष्टा और अभ्यास की जरूरत है। यह ही जीवन की परम साधना है।

आर्य ने जीवन में यह साधना समझ ली थी--यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। संकीर्ण स्वार्थ-परता से बाहर निकलकर जीवन को जगत् में मिला देना आर्य का चिर-लक्ष्य है। इससे वह; अनंत कर्तव्य में आत्मोत्सर्ग करता है। इस साधना में उसका आत्म-प्रसार-भाव इतना दृढ़ है कि वह चराचर, सर्वत्र, अपने सदृश आत्मा देखकर, अनंत प्रेम से, अपना प्राण एकीभूत कर देता है। जगत् में जिस विश्वात्मा का उद्भेद वह देखता है वह स्वयं भी वही आत्मा है, यह अनुभव कर कहता है—"सोऽहं, अर्थात्--वही मैं हूं"। यही आत्म-प्रसार उसकी साधना है, और "सोऽहंबुद्धि"—या आत्म लाभ के लिये यह अनन्य साधारण आत्मोत्सर्ग ही उसकी सिद्धि का लक्षण है। यही 'सोऽहं' या आत्मलाभ उसका आदर्श है। अनंत कर्तव्य-लीला के बीच अपना महीयान् विश्व-व्यक्तित्व अनुभव करना ही उसका जीवन है।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह आत्मोत्सर्ग, यह आत्म-प्रसार--साधना आर्य भूमि में कभी दर्शन या नीतिवाद का उपदेश नहीं। आर्य की बिलकुल मामूली जीवन क्रिया में भी यही दीख पड़ता है। हरिश्चन्द्र का आत्मदान, दधीची का आत्मोत्सर्ग आदि बहुत प्राचीन हैं—पुराण की बातें हैं। और हर्षवर्धन की अनन्य-साधारण उदारता मेगास्थनीज और फाहियान-वर्णित भारतवर्षीय इतिहास की बात है। इसप्रकार जातीय चरित्रके आलेख्यसे जातीय साहित्य और इतिहास भरपूर है। द्विजाति के सन्यास और योग-साधना से शूद्र के धर्म तक, सब मुक्ति या आदर्श लाभ का मार्ग है—यह धर्म शास्त्र के अक्षय अक्षरों से टपकता है। यह सब नीति ही जन-साधारण की प्राकृति-क्रिया में थी और इसलिये ही पुराण-प्रवचन आदिमें वे स्पष्ट उदाहृत और प्रमाणित रहीं। पुराण, प्रवचन इतिहास की बात छोड़ दो तो भी,आर्य की दैनिक जीवन क्रियामें भी, सदा यही जीवन-साधना और यही आदर्श-लाभ का प्रयत्न दीख पड़ता है।

आर्य का जीवन कर्म-मय है। उसने अपने कर्म-मय जीवन में भी किसी आसक्ति या फल-लाभ की आशा नहीं रक्खी। उसका विश्वास है कि जीवन में फल की आशा से कर्म करने पर कर्म में, 'मेरा' ऐसा अहंकार पैदा हो जायगा, व्यक्तित्व से विश्व-भाव स्खलित होगा, आत्म लाभ नहीं होगा, साधना व्यर्थ होगी, सिद्धि नहीं प्राप्त होगी—मुक्ति नहीं मिलेगी।

धर्म-दृष्टि से संसार एक बँध है, एक कर्म या कर्म-राशि की परम्परा है, एक कर्म-मय साधना का क्षेत्र है। इस बँध या आबद्धता के कारण स्वार्थ-भाव या अहंकार-बुद्धि होती है। अपने को कुछ सम्पर्क,

कर्तव्य और सुख-दुःख में आबद्ध मानने लग जाने से उसकी विशाल विश्व-दृष्टि सीमाबद्ध हो जाती है. वह 'मेरा' यह अहंकार करने लगता है, कर्म में कर्तव्य ज्ञान करके फल की आशा रखता है। संसारी प्राणी की यह स्वाभाविक प्रवृति है। इस लिये संसार में कर्म की साधना, सदा निरवाच्छिन्न कर्तव्य का अभ्यास, करना होगा। अभ्यास--बल से जीवन को, विश्वधर्म का अंगीभूत मान कर, सिर्फ कर्तव्य-मय अनुभव करना होगा। आर्य का विश्वास है कि इस अभ्यास में असमर्थ ठहरने पर भगवान् ने व्यक्ति से कहा—"मम कर्म परमोभवः" अर्थात्— मेरा कर्म करते हो' सदा यही विचार रक्खो। इस से साधना का मार्ग सुगम होगा। इस साधना में आत्मा को रमा देने से मनुष्य 'नाप्नोति किल्विषम्'—और मलिनता नहीं पाता, अर्थात् वह विश्व-तंत्रैक धारणा से भ्रष्ट नहीं होता, अज्ञान जड़ित आत्म-मोह उसे नहीं रहता। वह बंधन से मुक्त हो जाता है—उसे सिद्धि लाभ हो जाता है।

जनकादि सिद्ध पुरुष लोग इस सिद्धि-लाभ के विषय में आर्य के ऐतहासिक आदर्श हैं। जनक मिथिला के राजा थे-प्रजा, रंजन और प्रजा--पालन में तत्पर थे, नित्य नियत भाव से अपने स्थिर धर्म-कर्तव्य में निरत थे—तौभी वह सिद्ध और मुक्त थे। इसी लिये वह कह सके—

"मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे लाभो न मे क्षतिः।"

अर्थात्—"मिथिला के जल जाने पर भी न मुझे कुछ लाभ और न कुछ क्षति।" लेकिन इस लिये उन्होंने मिथिला के प्रति अपने कर्तव्य पालन में लेश मात्र असावधानता नहीं दिखाई। प्रजारंजन के लिये

समग्र कर्तव्य की संयत और कठोर साधना में, प्राण की विशाल व्याकुलता के मध्य, मिथिला के राजा होने पर भी ऐसे निर्लिप्त और फला- कांक्षा विरहित भाव से कार्य करना सिर्फ आर्य भूमि में ही संभव हुआ। वह अपने को विश्व-शक्ति का एक निर्दिष्ट अंश मान सकते थे। विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उन्हें जितनी ममता थी, अपने में भी उन्हें ठीक उतनी ही ममता थी। यूरोप में वचन है कि रोम नगर के जलने के समय रोम-सम्राट् नीरो आनंद से सितार गा—बजा रहे थे (Nero fiddled when Rome was burning) उन्हें भी ऐसी ममता नहीं थी ! लेकिन वह ममता का अभाव सिर्फ विलास-जनित-अवहेला का फल है। किसी भी व्यसनी विलासी में ऐसी ज़ाहिरा निर्ममता हो सकती है, किंतु जनक की निर्मम कर्म-साधना, धर्म-धारणा में विश्वतंत्रैक-बुद्धि, उससे विलकुल भिन्न है। जनक की निर्ममता में व्यसन-जन्य अवहेला नहीं है। वह निर्मम थे पर क्रियाहीन नहीं। विशाल धर्म-भाव से विश्व-प्रेरणा अनुभव कर वह विश्व-तंत्र में अपना निर्दिष्ट कर्तव्य करने के लिये निर्लिप्तभाव से कर्म-निरत थे।

विधाता के राज्य में विधाता स्वयं क्रियामय-रूप में विराजित हैं। विश्व-तंत्र उसी विधातृ-शक्ति से परिचालित होता है। "मैं" वही शक्ति हूं—वही शक्ति मेरे भीतर प्रगट उठती है। सूर्य न हो तो जीव- जगत् का सौन्दर्य और जीवन नहीं, और वर न रहे तो सूर्य की वदा- न्यता और उपयोगिता नहीं—इसी प्रकार 'मैं' न होने से विश्व नहीं और विश्व न होने पर 'मैं' नहीं हूं। अर्थात् 'मैं' वही हूं—सोऽहं। यही जीवन का आदर्श है। और यही उसकी मुक्ति है।

सूर्य और ग्रह-जगत् परस्पर की अपेक्षा रखते हैं परस्पर के प्रति उन में जिस तरह आपेक्षिक उपयोगिता है, जीवन के साथ विश्व का वह आपेक्षिक भाव ही बंध है। वह आपेक्षिक भाव जितना दृढ़ होगा व्यक्ति उतना ही अपने को भिन्न और स्वातंत्र भाव से उपयोगी मानेगा। इस से उसका बंध दृढ़ होता है। दृढ़ हो या शिथिल, इस बंध-धारणा में मनुष्य अंधा हो या मुक्त, इस कर्म बंध के मध्य में ही उसे रहना होगा। इस लिये आर्य इस कर्म बंध के बीच में मुक्ति की कामना करता है। जीवन की कर्म साधना में यह मुक्ति ही साधक का लक्ष्य है। कर्म ही आर्य की साधना है, कर्तव्य ही मार्ग है। इस लिये उसने ईश्वर वाणी सुनी—

"नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।"

अर्थात् "(ईश्वर कहते हैं) मनुष्य तू सर्वदा कर्म कर, कर्म न करने से कर्म करना ही अच्छा है।"

कर्म से आसक्ति छोड़ना और कर्म छोड़ना एक बात नहीं। संसार -निवास तक कर्म करना ही पड़ेगा। क्योंकि—

"शरीर यात्रापि च ते, न प्रसिद्धेदकर्मणः।"

अर्थात्—"कर्म न करने से (संसार की और बातें तो दूर) तेरी (सामान्य) शरीर-यात्रा भी नहीं चलेगी।"

संसार कर्म भूमि है। विश्वतंत्र कर्म से चलता है। कर्म के बिना संसार असम्भव है। जो जनकादि कर्म छोड़ सके थे, या कर्म से आसक्तिहीन हुए थे, उन्होंने भी—

"कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः"

अर्थात्—"केवल कर्म में ही सिद्धि लाभ की थी"

जगत् की इस कर्मतंत्रता के विषय में दृढ़ धारणा होजाने में सिद्धि होती है। उस समय कर्तव्य को ही मनुष्य जीवन समझ लेना है। जगत में हर एक अपना निर्दिष्ट कर्म करेगा। कोई कर्म नीच या ऊंच नहीं है। इसलिये कहा गया है कि—

"विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी.
सुनीचैव श्वपाके च. पंडिताः समदर्शिनः।"

अर्थात्—विद्या, विनय, सम्पन्न व्यक्ति, ब्राह्मण. गौ. हाथी, कुत्ता. चंडाल—विद्वान् सबको बराबर मानता है।

यह समज्ञान ही साधना की सिद्धि है। इस समज्ञान से मुक्ति होती है। इसी समज्ञान के लिये कर्म, ज्ञान, भक्ति, आदि नाना साधना है। यही समज्ञान विश्वतंत्र के यथार्थ ज्ञान का फल है। इसको ही आर्य लोग आत्मज्ञान कहते हैं। मैं कौन हूं ? -क्या हूं ? -यह ज्ञान होने से ब्रह्मांड का ज्ञान होता है। विश्वतंत्र की नियम-बद्ध कर्मण्यता समझकर मनुष्य क्षुद्र अहंकार तजदेता है, प्रकृत आत्मज्ञान में आत्मोत्सर्ग करके आत्म-लाभ करता है। इसलिये कहा है—

"उद्धरेदात्मनात्मनम्"

अर्थात्—"आत्मा से आत्मा का उद्धार करो"।

अनंत—विश्वात्मा का ज्ञान होने पर क्षुद्र मानवात्मा का अहंकार उसमें लीन होजाता है। मनुष्य समझता है मैं कोई नहीं हूं। वास्तव में

अनंत विश्व कर्म-तंत्र में मेरा एक यथोचित स्थानमात्र है। और उसे हिसाब से सूर्य, चंद्र, तारों से लेकर कुत्ता, चांडाल, तरु, पर्वत तक—सबका एक २ स्थान है। जो मैं हूं वे भी वही हैं—सारा संसार वही है। इस भाव की धारणा, यह आत्म-प्रसार, आत्मा को इस समान आत्मा को जगत में व्याप्त देखना ही आर्य की समस्त साधना का लक्ष्य है। एवं यह विश्वतंत्र का ज्ञान; यह विश्वात्मा का अवबोध और उसमें प्रकृत धारणा ही उसकी मुक्ति है।

इस बात को ऐसे दार्शनिक भाव से समझ लेना किसी २ के लिये दुरधिगम्य होसकता है। विश्वशक्ति का अनंत विकास मेरे ही अंदर है, विश्व शक्ति का विकास ही मेरा जीवन है, मेरे न रहने से समस्त विश्व नहीं है, समस्त विश्व के न रहने पर मैं भी नहीं हूं—यह सब बात एक मामूली उदाहरण से समझ ली जायगी।

धन संसार में सिर्फ कारोबार और व्यवहार के लिये हैं। लोग उससे खाद्य, पेय और परिधेय खरीदते हैं। कोई उसे अपना बनाकर नहीं रख सकते। जो धन इकट्ठा करता है। वह भी उसे नहीं रख पाता-वह मकान खड़े करता है, बगीचे लगाता है, बक्स अलमारी बनाता है आदि। इस तरह अंत में धन शिल्पी और श्रमजीवियों के हाथमें जाकर उनके लिये खाद्यपेय जुटाता है। वह कभी स्थिर नहीं रह सकता। अगर कुछ भी न हो तो उसे चोर ही लेजाता है। या समाज के असद्-व्यवहारी लोग ही उस पर कब्जा जमा बैठते हैं। वह हमेशा एक से दूसरे हाथ को जाता है, एवं हमेशा खाद्य-पेय-परिधेय जुटाने के काम में आता है। यह धन की प्रकृति है। किंतु तोभी लोग धन संचय करते हैं—उसे गाड़कर

रखते हैं; सोचते हैं यह धन 'उनका' हैं, किंतु फल से बाध्य होकर वे उसे अन्य हाथ में देते ही हैं। जो ज्ञानी है वह ऐसा नहीं करता। धन की प्रकृति के विषय में उसे सम्यग् धारणा रहती। यह उसको व्यवहार या वितरण करता है—गाढ़कर नहीं रखता। उसमें उन्हें 'मेरी' ऐसी विशेष ममता या अहंकार नहीं रहता। किंतु यह ज्ञान लोक-साधारण को सहज ही नहीं आजाता। इसलिये साधना जरूरी है। धन का प्रकृत अर्थ समझ विशेष मनोनिवेश कर, उसी के अनुसार कर्म अभ्यास करना साधना है। इस में सिद्धि होजाने से और धन की ममता नहीं रहती।

धन के सम्बन्ध में जो कहा गया जीवन के संबंध में भी वही समझना होगा। जीवन का व्यवहार ही उसका अर्थ है-उसकी यथार्थ उपयोगिता या उद्देश्य है। कर्म ही जीवन का व्यवहार है। निर्दिष्ट कर्ममें उसकी यथार्थ उपयोगिता प्रतिपादित होती है। जगत् में प्रत्येक जीवन की प्रत्येक वस्तु की, निर्दिष्ट क्रिया है; वह न रहने से विश्वतंत्र ध्वंस होगा। किंतु इस व्यवहार का भाव सहज नहीं आता। इसलिये साधना का प्रयोजन है। इस साधना में सिद्धि होने पर समस्त विश्व-जीवन का भार हृदय में प्रतिफलित होता है। मनुष्य के और अहंकार नहीं रहता। अज्ञान, ज्ञान को नहीं आवृत कर सकता। जीव का मोह नष्ट होता है—यह मोह नाश ही आर्य जीवन की सिद्धि है। कर्म का अभ्यास कर्म की प्रकृति का अवबोध, और समस्त विश्वतंत्र में आत्मप्रसार की धारणा करना इसी सिद्धि का मार्ग है। इस मार्ग से ही आर्य जीवन की साधना है। यह जो साधना और सिद्धि की बात की गई-वह सिर्फ आर्य का दार्शनिक मत नहीं है, आप्त वाक्य का नीति उपदेशक नहीं है। वह पुराण सिर्फ इतिहास के उदाहरण को ध्यान में रखकर प्रतिपादित की

गई है। किंतु सिर्फ पुराण इतिहास ही क्यों, जीवन के इस लक्ष्य की साधना आर्य का नित्य व्रत है। यह आत्म प्रसार और आत्मोत्सर्ग की नीति आर्य की दैनिक अभ्यास क्रिया में भी स्पष्ट दिखाई देती है। इस देश के जन साधारण की सरल ईश्वर-परायणता और कर्म की निष्ठा, अकृत्रिम अतिथेयता और निरहंकार दान, आज भी प्रत्येक वैदेशिक संदुच्छु की दृष्टि आकर्षित करेंगे—यह सब आत्म प्रसार-साधनाका फल है।

प्रवाद है—और सब जानते भी होंगे—कि इन्द्रद्युम्न ने निराचल धाम में अक्षय-कीर्ति सम्पादन करके ब्रह्मा से वर मांगा—"मुझे यह वर दो कि मेरे कुल में कोई न रहे। जिस से इस कीर्ति को 'मेरा' कह कर अहंकार करने वाला कोई न हो"। कुल रक्षा करना आर्य की कितनी उपादेय और प्रिय वस्तु है, और समाज में उस के लिये कितना आदर और प्रभाव है—सब जानते हैं। किंतु इन्द्रद्युम्न का आत्मोत्सर्ग भी आर्य के जातीय-भाव और उसकी जातीय-साधना का फल है। इन्द्रद्युम्न तो प्रमाण और आदि प्रवाद के विषय हैं, इस देश में कितने ही मन्दिर, मठ, देवालय, पुष्करिणी आदि सब चिरप्रतिष्ठित रहे हैं, किंतु कहीं भी संगमरमर पर अपना नाम खुदवा जाने का जिक्र नहीं है। जीवन की क्रिया में यह आत्मोत्सर्ग केवल आर्य के समीप ही सम्भव है। यह उसकी साधना है—यह उसका जीवन है।

अनेक आक्षेप करते हैं कि इस देश में लिखित इतिहास नहीं है। अवश्य वर्तमान् की आवश्यकता की दृष्टि से यह आक्षेप की बात हो सकती है, लेकिन भारतीय आर्य ने आत्म-प्रसार-साधना आत्मोत्सर्ग की जो महीयसी दीक्षा लाभ की, उसमें उसने अपना निजत्व बिलकुल

रक्खा ही नहीं। यहां तक कि किसी कर्म को उसने वास्तव में अपना स्वतंत्र कर्म नहीं समझा। समस्त कार्य को अनंत मानव जाति का तथा विश्व-तंत्र का कार्य मान कर उसने महा जातीय जीवन में आत्म दान कर दिया। अनंत विश्व-शक्तिके साथ जिसने अपना अभेद नहीं देखा, उसके समीप किसी कीर्ति या कर्म में अपना नाम छोड़ जाने का अहंकार कहीं सम्भव नहीं। यहां तक कि चिर-तन् आत्म-प्रसार का अभ्यास करके उसी महा साधना में दैनिक क्षुद्र क्रिया-कलाप के भीतर आर्य ने आत्मोत्सर्ग करना भी सीखा, और कर्म में भी समर्थ हुआ।

लोक की शिक्षा और समय की गति नियमित बनाने के लिये इतिहास आवश्यक है। इतिहास से पूर्व लोगों की क्रिया गति और कर्म व फल को लक्ष्य कर मनुष्य को अपना कर्तव्य स्थिर करना पड़ता है। इस तरह इतिहास से मनुष्य जो शिक्षा पाता है उस से वह भविष्यत् के लिये सावधान होता है। किंतु इस सब सावधानता की शिक्षा के मध्य में मनुष्य का अहंकार और कर्म फल में आसक्ति स्पष्ट दीख पड़ती है। विश्व-तंत्र के नियम से मनुष्य जो प्राकृतिक शिक्षा पाता है उसके साथ तुलना करने से यह इतिहास की शिक्षा कृत्रिम है। इस से मुक्ति की ओर न जा कर, मनुष्य के, कर्मबंध के मध्य आबद्ध हो कर विश्व-तंत्र नियम से क्रमशः अधिकाधिक विच्छिन्न हो जाने की सम्भावना है।

इस लिये इस कृत्रिम शिक्षा के लिये क्रिया-विधान करना आर्य के लिये स्वाभाविक नहीं है। आर्य जानता है—कर्म भगवान का है, विश्व-तंत्र नित्य नियम से कर्मफल आप ही फलता है। इतिहास की अर्थात् लोक क्रिया या घटना राशि की विश्व-तंत्र

में जो उपयोगिता है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। घटना और लोक क्रिया का फल और प्रभाव विश्व-विधान में नित्य वस्तु है—उसका विनाश असम्भव है। इस लिये इतिहास नष्ट होने की वस्तु नहीं है। इतिहास से फल अहंकार और शिक्षा केवल बंध का लक्षण है। आर्य के भाव के अनुसार वह जगत् में अनावश्यक है।

वास्तव में साधारण स्थूल दृष्टि से देखने से भी साफ़ मालूम पड़ता है कि कोई चिंता या कर्म पृथ्वी में एक बार प्रचारित हो जाने पर नष्ट नहीं होता। आज जो हम लोग शिक्षित और सभ्य हैं वह कितने ही युगों की जातीय चिंता और कर्म का फल है। किंतु किस की चिंता और किस के कर्म का फल है—सो कोई बता नहीं सकता।

आज हम लोग खेती करते हैं, अपनी रोटी बना कर खाते हैं, आग जलाते हैं, सृष्टि के प्रथम दिन हमारे आदि पूर्व पुरुष लोग इन सब को शायद एक साथ ही न जानते होंगे। किस ने पहिले अग्नि का आविष्कार किया, हल जोता, खड्डी पर बुनना चलाया—वह हम नहीं जानते, किंतु इन सब कार्यों के फल कायम ही रहे। प्राकृतिक जीवन-विकास में सब कर्म सृष्टि में क्रमशः प्रसार लाभ करते हैं। इतिहास लिखा न रहने पर इतिहास नष्ट हो जाता हो—सो बात नहीं। वरन् लिखित इतिहास से तो केवल मनुष्य के पुरुष—कार के बढ़ जाने की आशंका है। अमुक ने यह किया तो यह नतीजा निकला, मैं अब वह करूं वा नहीं—यही इतिहास शिक्षा का फल है। इस पुरुषकार-प्रधान जीवन-संग्राम-युग में अवश्य इस तरह की इतिहास शिक्षा एवं तदनुयायी साधना का यथेष्ट अवकाश है। किंतु जीवन के प्राकृतिक विकास में वह सम्भव नहीं।

मनुष्य बढ़ता है। जीवन की पूर्व-पूर्व अवस्था का फल परवर्ती अवस्था में रहता है। प्राकृतिक भूयोदर्शन (कुदरती तजुर्बा) या क्रिया-प्रवाह चलना ही है। यह एक प्रकार की प्राकृतिक साधना है। फिर मनुष्य उपदेश पाता है, उपदेश के अनुसार फलाफल विचार कर, उस उपदेश को याद रख कर, तदनुसार कार्य करता है—यह और एक प्रकार की साधना है। यह प्राकृतिक नहीं कृत्रिम है। उस में मनुष्य पुरुषकार प्रयोग कर, समझ-बूझ कर, अपने जीवन विकास का मार्ग स्वयं तेयार करता है।

जीवन में इन दोनों प्रकारों की साधना के लिये स्थान है—यह ठीक, लेकिन विश्व-तंत्र की प्राकृतिक अभिव्यक्ति में प्राकृतिक साधना ही मार्ग है। बंध युक्त मनुष्य कृत्रिम साधना अवलम्बन कर सकता है लेकिन प्राकृतिक साधना का मार्ग अवलम्बन न करने से प्राकृतिक साधना की नीति से प्रभावित न होने से, उसका आत्म प्रसार सीमाबद्ध होगा-बंध दृढ़ होगा। यह सब होने पर भी कृत्रिम साधना का अनुसरण किये बिना मनुष्य नहीं रह सकता। प्राकृतिक साधना से विमल विश्व-वस्तु मानव-शिशु, स्वभावतः जो कर्म आचरण कर जाता है—कृत्रिम साधना में उसी कर्म में कारण ज्ञान और फलाफल बिचार प्रवेश करता है—सही; लेकिन उस समय की साधना का प्राकृतिक मार्ग छोड़ देना ठीक नहीं। प्राकृतिक मार्ग न छोड़ने से साधना पूर्ण होती है आत्मभाव से विश्व वस्तु के सदृश मनुष्य जिस कर्म में निरत है, ज्ञान के साथ आलोचना कर विश्वतंत्र को समझ सकता है, धर्म अवधारणा कर सकता; आत्म-प्रसार की शुद्ध अनुभूति से पुलक और

आनन्द अनुभव कर सकता है: किंतु कर्म का मार्ग छोड़ देने से कर्म के प्राकृतिक साधना का प्रभाव न रहने से उसकी दृष्टि सीमाबद्ध होजाती और अहंकार जागृत होता है। और वह विश्वतंत्र से विच्छिन्न और भ्रष्ट होता है। ज्ञान हेय नहीं है, लेकिन बंधु भाव सर्वथा वर्जनीय है।

एक साधारण बात का उदाहरण लेलीजिये। बालक प्रकृति की शुद्ध वस्तु है। प्राकृतिक जीवन की अनाविलता उसमें भ्रष्ट या विचलित नहीं हुई है। उसके अपना पराया नहीं है; भेद बुद्धि नहीं है। उसकी समस्त क्रिया में आत्मप्रसार की शुद्ध अभिव्यक्ति है अग्नि और जल में समज्ञान है। जो ज्ञान उसे अन्त में है, मृत्यु या विष्ठा में उससे भिन्न ज्ञान नहीं। मनीषी पंडित, महापुरुष लोग जो शुद्ध ज्ञान का उपदेश देते हैं, जो आत्मप्रसार की साधना बतलाते हैं;—शिशु के ज्ञान, शिशु की साधना का लक्ष्य करने से उसमें उसी आत्मप्रसार, उसी विश्वव्यापक ज्ञान का निदर्शन मिलता है।

लेकिन प्रभेद है। शिशु जिसको अज्ञात-भाव से विश्वशक्ति की मौलिक प्रेरणा से करता है, मुक्त मानव वही आत्मप्रसार के फल से विश्वतंत्र के सम्यग् ज्ञान बल से, समझकर करता है शायद पंडित ने वह ज्ञानलाभ संसार के तजुर्बे से, विचार और फलाफल परिक्षा से,किया। कारण के साथ समझकर इसी ज्ञान के अनुसार वह कार्य करेगा। शिशु को वह कारण-ज्ञान नहीं।

सब लोग आग जलाते हैं; । आग बुजाने पर फूंक मारते हैं और फिर वह जल उठती है—यह एक साधारण क्रिया है। प्राकृतिक प्रणाली से हमेशा चली आती है। वैज्ञानिक अनुसंधान करके जानते हैं

कि पवन के अम्लजन वाष्प (Oxygen) के साथ काठ के भीतर के कार्बन का रासायनिक संयोग होने से आग जलती है। इसलिये आग जलना बन्द होने से समझना होगा काठ का अंगारा जरूरी अम्लजन नहीं पाता। मनुष्य प्रश्वास वायु से बहुत अम्लजन छोड़ता है, एक बाहर वायु मंडल से उसमें बहुत अधिक विशुद्ध अम्लजन रहता है। आग को फूंकने से लकड़ी पर, वायु-प्रवाह जल्दी २ चलाने से काठ का अंगार जरूरी अम्लजन (Oxygen) पा कर जल उठे। इस से प्राकृतिक क्रिया और ज्ञानलब्ध क्रिया में—दोनों—में वस्तुतः कुछ प्रभेद नहीं है। सिर्फ पहिले में कारण-ज्ञात नहीं है—दूसरा कारण ज्ञान के साथ उस ही क्रिया का अनुष्ठान है।

शिशु और मुक्त मनुष्य के कार्य में यही सम्बन्ध है। क्रिया दोनों में एक सी रहती है। साधना या साधना के मार्ग में किसी प्रकार का व्यत्यय या व्यतिक्रम नहीं है। किंतु भगवान् ने शुद्ध स्वभाविक शिशु को जो आत्म-प्रसार देकर पृथ्वी पर भेजा, जिस आत्म-प्रसार के फल से वह जीवन धारण कर सका, जिस आत्म-प्रसार-साधना से उस ने विश्व-तंत्र में अपना निजत्व रक्खा, मुक्त पुरुष ज्ञान के साथ उसी आत्म-प्रसार का मार्ग अवलम्बन करता है, उसी आत्म-प्रसार से विश्वैकत्व अनुभव कर कर्म से अहंकार छोड़ता है।

यही जगत् में स्वाभाविक विकास का नियम है। आदिम अवस्था में अज्ञान भाव से जो हो जाता है विकसित अवस्था में ज्ञान के साथ ठीक वही करना होता है। आदिम वेद-गान में ऋषि कण्ठ भेद कर जो आत्म-प्रसार और विश्वात्मा का अवबोध प्रस्फुट हुआ, वेदांत की

सकारण और सयौक्तिक व्याख्या में वही प्रमाणित और सिद्ध होता है। इतिहास की शिक्षा का भी इसी नियम में चालित होना उचित है। अज्ञान भाव से जगत् की घटना या कर्म परस्परा मनुष्य को जिस भाव से प्रभावित करती है इतिहास उसे ही खोल कर देखेगा, लेकिन विकास के मार्ग में इस प्राकृतिक नियम को छोड़ कर अहंकार में भिन्न मार्ग खोज देने का प्रयास करने से क्रिया भ्रष्ट होगी, कल्पना में विशृंखला आ जायेगी, अहंकार से मनुष्य का धर्म नाश होगा।

आर्य के साथ ऐसा नहीं हुआ। उसने घटना के स्वाभाविक प्रभाव के ऊपर निर्भर रह कर चिरकाल इतिहास की परस्परा देखी। आत्म-प्रसार से रहित आत्म-साधना में वह प्रवृत्त नहीं हुआ। इसी आत्म-प्रसार से उसकी क्रियाराशि के विश्व-ब्रह्मांड को अपनाया, वह आतिथेय हो रहा। लेकिन वहां भी उसने कहा—

"रत्नाकरः किं कुरुते सुरत्नैः विन्ध्याचलः कि करिभिः करोति।
श्री खंड खंडैः मलयाचलः किं, परोपकाराय सतां विभूतिः॥"

(अर्थात्) रत्नाकर ने अपने लिये रत्न नहीं बनाये, विन्ध्याचल ने अपने व्यवहार के लिये हाथी नहीं पाले, मलयगिरि ने स्वयं गर्मी में चंदन लगाने के लिये चंदन-वृक्ष नहीं उगाये—साधु लोगों का सब वैभव दूसरों के लिये ही होता है।

एक उपमा होने पर भी इस में बहुत सी बातें समझने योग्य हैं। यह आर्य भूमिका का एक प्रवचन है। प्रवचन में युग-युगांतर का परिपक्व ज्ञान प्रकाशित होता है। आर्य जिस आत्म-प्रसार से समस्त विश्व प्रकृति के साथ जीवन मिला कर, विश्वमय घटनाराशि से अपनी

कर्म शिक्षा लेकर, जीवंत साधना में निरत रहा—यह प्रवचन उसे स्पष्ट प्रमाणित करना है।

कर्म-शिक्षा के लिये आर्य के समीप अनंत सृष्टि और अनंत घटना-राशि पड़ी है। आत्म-प्रसार के फल से इस समस्त वस्तु और घटना-राशि के साथ मनुष्य अपनी आपेक्षिक उपयोगिता तथा एकत्व अनुभव करता है। विशाल विश्व से प्रभावित होकर उसने आत्म-प्रसार समझा है। इस लिये सृष्टि में सब जगह उसने अपने कर्म का प्रतिबिम्ब ही देखा। सभी मानों उसे कर्म शिक्षा देते हैं। वह सब के साथ एक होकर अपनी अपनी निर्दिष्ट कर्म परम्परा अवलम्बन करता है, इस लिये समस्त कर्म साधना में उसका आत्म-प्रसार ही प्रगट होता है, एवं इसी आत्म-प्रसार में प्रतिष्ठित् रह कर वह विशाल विश्व को अपना मानता, एवं अपने को विशाल विश्व के साथ एक मानता है। स्थिति लीला की विचित्रता उसके लिये अद्भुत नहीं। आत्म-प्रसार की साधना के फल के कारण स्थिति लीला का विस्मय उसे मोह में नहीं डाल देता। उस विस्मय से तो आर्य वरन् आनन्द पाता एवं विचित्र निसर्ग लीला में पूर्ण, अखंड और मुक्त आत्म-बोध सिद्ध कर वह कृतार्थ होता है।

षष्ठ अध्याय

आर्य जीवन का आदर्श—'सोऽहं'

र्य जीवन में आत्म-प्रसार ही साधना का परम लक्षण है। समस्त क्रिया-परम्परा में आर्य विश्व-एकत्व अनुभव करता है, लेकिन यह विश्व-एकत्व क्या है—अर्थात् आर्य की साधना का आदर्श क्या है?—इस बात को समझ लेना ज़रूरी है।

साधना का मार्ग—आदर्श का लक्ष्य—जगत् में कोई नवीन बात नहीं। समस्त कर्म ही एक २ साधना के अंग हैं। जगत् में कोई भी निरुद्देश्य या आदर्श हीन नहीं है। आदर्श के बिना जीवन असम्भव है। जगत् में हर-एक कर्म में एक २ लक्ष्य अनुसरण करता है। किसी का लक्ष्य धन, किसी का धर्म, किसी का भोग, किसी का त्याग, किसी का ख्याति, किसी का प्रीति, किसी का पुरुष और किसी का विश्वास—

इस तरह प्रत्येक व्यक्तित्व-वान् जीवंत वस्तु का कोई आदर्श है। और अपने २ लक्ष्य पर पहुंचने के लिये आदर्श लाभ करने के लिये, सब न्यूनाधिक साधना करते हैं। इस लक्ष्य को स्थिर करने में, इस साधना के अवलम्बन करने में, किसी की गति प्रकृति मार्ग में अपने आप ही फूट उठती है कोई दूसरे से देख कर सीखता या धारण करने की चेष्टा करता है। अमुक ऐसे लक्ष्य से, ऐसे मार्ग से, ऐसा बन गया—हम भी फिर उसी तरह करेंगे, यह हुआ एक साधन। आधुनिक युग की उद्धत पुरुषकारमय-सभ्यता में, सर्वत्र यही साधना दीखती है। ईसाई सभ्यता और बौद्ध सभ्यता एक समय ऐसी नीति पृथ्वी पर व्याप्त हुई। आज यूरोप की सभ्यता इसी रीति से प्राच्य-भूखंड प्लावित करने पर तुली बैठी है। सोचा—"यूरोप कारखाने बना कर बढ़ गया" और हम भी कारखाने खड़े कर पल्लि-शिल्प कुचल डालने के लिये तैयार हो जाते हैं, चतुष्पाठी तोड़ कर स्कूल बनाने और राज दर्बार में राजा के साथ अधिकार की खैंचातानी करने की सोचते हैं-आदि। ये सब हम जान बूझ कर अपने जीवन के आदर्श से नहीं ग्रहण करते, वाध्य हो कर करते हैं। यह हमारे आर्य-जीवन के विकास का अंग नहीं होता। हम जीवन को विध्वंस कर नूतन सृष्टि करते हैं। इन सब का फल कभी किसी रोज़ फल सकता है, लेकिन यह प्राकृतिक नहीं है, कृत्रिम है। समाज को ऊपर से भेदते भेदते नीचे जन साधारण तक पहुंचने और उनको प्रभावित करने में यह बहुत काल लेगा। अंत में फिर आर्य जीवन का अंश न बन कर शायद यह आर्य-परम्परा नष्ट कर देगा।

लेकिन आर्य भूमि में जीवन-विकास स्वाभाविक है। अबतक जो साधना की बात कही गई है, वह कैसे और क्यों स्वाभाविक है-यह हम लोग नहीं

समझे हैं । आर्य की सब साधना एक स्थिर आदर्श की ओर जाने का उद्यम मात्र है श्रुति, आप्तवचन और शास्त्र, हम लोग को सीखने होते हैं; और उसी शिक्षा के अनुसार क्रिया विधान करना होता है इतने से ही हठात् आदर्श या साधना की प्राकृतिकता प्रतिपादित नहीं होती ।

प्राकृतिक साधना का प्रकृति से ही प्रस्फुट होना ठीक है–स्वाभाविक है । प्राकृतिक आदर्श के भी स्वातंत्र्य है। प्राकृतिक व्यक्तित्व-विकासकी प्रणाली ही प्राकृतिक साधना है एवं उस प्रणाली से जीवन का जो लक्ष्य स्वतः स्फुट होता है वही प्राकृतिक जीवन का व्यक्तित्व या आदर्श है । इसमें व्यक्ति हेय का बर्जन और उपादेय का ग्रहण कर स्थिर लक्ष्य की ओर जाता है—सच; लेकिन उस आदान वर्जन में कुछ बाध्यता नहीं रहती उस लक्ष्य में सिर्फ परानुसरण नहीं रहता । आर्य के साथ नहीं हुआ साधना का विचार करते समय केवल आत्मप्रसार और कर्म परम्परा की बात विशेष भाव से कही गई थी । उसमें व्यक्तित्व-विकास और आदर्श स्फुरण की व्याख्या विशेष नहीं दी गई—इसका कारण है ।

व्यक्ति की तरह समाज और जाति भी शैशव, वाल्य, यौवन आदि अवस्था भोगती हैं । जाति की कर्मोन्नति में जब उसका आदर्श पूर्ण विकास पाता है, जब वह एक प्रकार से स्थिर होता है । व्यक्ति जीवन में भी ठीक यही बात है । यौवन की पूर्णता में जब विषय बोध पैदा होता है, मतामत स्थिर होता है, व्यक्ति का विकास उस समय एक प्रकार सीमाबद्ध होता है । उसके बाद शिक्षा और समाधान, अदान और ग्रहण नहीं होता सो नहीं । लेकिन वे सब केवल उसी स्थिर व्यक्तित्व की दृढ़ता और क्रिया के प्रसार के लिये हैं । आदर्श उस समय स्थिर हुआ; उसके

वाद केवल आदर्श में जीवन मिलाने की चेष्टा है, आहरण को जीवन का अंगीभूत करने का उद्यम है; कर्म परम्परा में व्यक्तित्व स्थिर, दृढ़ और स्पष्ट रखने का प्रयत्न है।

जातीय जीवन की गति भी ठीक वैसी ही है। आदिम अवस्था में जाति प्रकृतिका खिलौना है उस अवस्था में, प्राकृतिक तजुर्बे के बल पर, वह क्रमशः बढ़ता है, शुद्ध सरल जीवन के आदर्श की, विशाल व्याख्या करता है, और समस्त कर्म आहरण से शैशव के शुद्ध सरल आदर्श को पुष्ट और प्रमाणित करता है। इस प्रकार आदर्श क्रमशः परिणत होकर कुछ काल के बाद स्थिर होजाता है। तदन्तर उस आदर्श को दृढ़ बनाने का काल है। इस बीचमें क्रमशः जाति की लोक संख्या औरअधिवास-स्थान फैलते रहते हैं। इसलिये आदर्श की दृढ़ता संपादन कर उसे ठीक रखने के लिये शिक्षा और प्रयत्न की जरूरत है। इसी कारण पिछले काल में आर्य साहित्य में, साधना का मार्ग स्पष्ट उपदेश के रूप में बतलाया गया है, व्याख्या कर समझाने की चेष्टा की गई है; एवं वह साधना और आत्म प्रसार आर्य जाति के प्राकृतिक वर्द्धन का फल है—ऐसा मान किया गया है।

फिर व्यक्तिगत जीवन की मौलिकता और सुविधा के अनुसार आदर्श का अज्ञान और स्पष्ट विकास कभी जल्दी और कभी देर से होता है। कभी मूढ़ता याविशृङ्खला के कारण व्यक्तित्व भ्रष्ट होने से आदर्श का वह विकास बिलकुल नहीं होता—यह भी देखने में आता है। फिर वही मनीषी और प्रतिभाशाली लोग स्वयं अपने व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित होते हैं। कोई २ शिक्षा के फल के अनुसार व्यक्तित्व का आदर्श स्थिर करते आये

हैं और कोई गुलाम की तरह दूसरे का ही आदर्श अनुसरण करते हैं। जातीय जीवन में भी यही होता है। मौलिक शक्ति-सम्पन्न जाति में जातीय व्यक्तित्व थोड़े ही समय में स्पष्ट प्रगट होजाता है। फिर कोई, जैसे यूरोप ने क्रीस्ट धर्म आदि से अपना व्यक्तित्व-आदर्श लिया वैसे, ही दूसरे की शिक्षा की साधना से प्रतिष्ठित होते हैं। अन्त में फिजीवासी आष्ट्रेलिया के होटेन्टो, उराग जातियों के सदृश किन्हीं २ के व्यक्तित्व अब तक भी नहीं विकास पासका है—यह भी मिलता है।

आर्य की जातीयता सनातन है। बहुत काल से वह सुप्रतिष्ठित है। उसने बराबर मौलिक भाव से विकास पाया है। पिछले जमाने में आर्य विभिन्न आदर्श के संसर्ग में से गुजरा है, आहरण से कभी २ उसने अपना व्यक्तित्व भी पुष्ट किया है;किंतु उसने अब तक मौलिकता नहीं खोई है। तब, इसने किस मौलिक विकास में, किस प्रकृत साधना का मार्ग लेकर, किस प्रकार के आदर्श का विकास साधन कर, उस आदर्श को कायम रक्खा ?—यह देखना उचित है। अवश्य, यहां साधना का अर्थ कुछ भिन्न रूप से समझना होगा। यह बराबर किसी आदर्श को कायम रखने का उद्यम या प्रयत्न नहीं है; वरन् वह आने वाले युग की क्रिया है। प्रारम्भसे साधना सिर्फ विकास की प्रणाली है, इसने जाति में स्वतः ही वृद्धि पाई।

बराबर कहा जाता है कि व्यक्ति जीवन का विकास और जातीय जीवन का विकास, दोनों, एक ही मार्ग से होते हैं। इसलिये यहां आर्य-जीवन का स्वाभाविक विकास देखना होतो एक व्यक्ति जीवन के मौलिक शुद्ध, सरल, विकास के उदाहरण को लेकर विषय आरंभ करना सुविधा-जनक होगा।

एक प्राकृतिक मनुष्य-शिशुकी कल्पना करें। परमपिता के विश्व-राज्य में वह शिशु अवतीर्ण हुआ। उसके जीवन का क्रमशः विकास होगा, लेकिन वह विकास जब बराबर स्वाभाविक हो तो क्या मार्ग अवलम्बन करेगा? भूमिष्ठ होने के समय वह निराश्रय और समस्त प्रकृति से मानों विच्छिन्न है। पृथ्वी, वस्तु आदि से वह भिन्न है। उनके साथ उसका द्वैत-भाव है। वह एक स्वतंत्र प्राणी है। इस लिये उसी स्वातंत्र्य से, उसी द्वैत-भाव से, उसने मानों पृथ्वी पर पदाघात किया। पृथ्वी ने वह सहा, लेकिन सिर्फ यही नहीं, वरन् साथ ही उसके पैर में थोड़ा सा प्रतिघात कर मानो शिशु को जतला दिया कि 'इस प्रकार सामान्य २ आघात करके मैं तेरे शरीर अवयवादि को सबल और कार्यक्षम बना दूंगी'। सूर्य देख कर शिशु ने आंख खोल दी। सूर्य ने उसकी आंखों में प्रतिघात कर मानों बतला दिया—'आंख हठात् इतनी खोल उठना ठीक नहीं—धीरे २ अभ्यास करके आंख को किरण सहने के योग्य बना लेना ही ठीक है। ऐसा करने से ही आंख भविष्य में काम करेंगी।' शिशु दीपक की लौ देख कर उसे पकड़ने को हाथ फैलाता है, दीपक ने मानों संकेत कर दिया—'पकड़ना मेरा व्यवहार नहीं, मेरे साथ अन्य प्रकार का सम्बंध स्थापन करना होगा।' इस प्रकार विश्व-पिता के राज्य के अनंत-शक्ति-समूह में शिशु एकाकी रह कर, अपने अभाव और आंकाक्षा राशि के द्वारा जीवन-विकास में अग्रसर हुआ। जहां शिशु नितांत भ्रम में पड़ गया वहां उसे बचाने के लिये विधाता ने पिता-मातादि के भय में स्नेह का संचार कर रक्खा। इस से भी उसको जीवन-विकास को सहायता मिली। शिशु ने क्या देखा?—जिस शक्ति के सम्पर्क में आया उस पर द्वैत-बोध से शत्रु के समान आक्रमण किया, लेकिन परिणामतः

उसे अनुभव हो गया कि कोई उसका शत्रु नहीं है। अनंत-विश्व-शक्ति किसी के निगूढ़ आदर्श से, मानों, उससे मित्रता ही करती है। सब वस्तु उसके जीवन विकास में सहायता पहुंचाती हैं। सब, जीवन में उसकी आकांक्षा और आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये, उसके व्यवहार में आने के लिये, मानों प्रति मुहूर्त किसी के इंगित की प्रतीक्षा में रहती हैं। उसने देखा—सर्वत्र प्रत्येक वस्तु में एक २ शक्ति का विकास है। उसके अपने अंदर भी मानों एक शक्ति है और उसी शक्ति के बल से उसने पृथ्वी पर आघात किया। उसी प्रकार पृथ्वी के भीतर किसी गूढ़ शक्ति ने उसके आघात का प्रतिघात दिया। इस प्रकार एक २ शक्ति को अनुभव कर जब उसने देखा कि यह समस्त शक्ति एक लक्ष्य में चल रही हैं, सब मिल कर केवल उसके व्यक्तित्व का विकास करती हैं, तब उसने स्वतः, बहिर्जगत् के अंतराल में एक महा शक्ति की सत्ता अनुभव की, एवं हरेक शक्ति में उसी महा शक्ति का स्फुरण देखा। उसने अनुभव किया कि बहिर्जगत में सर्वत्र एक महान् शक्ति का विकास है। भूमि-जल-वायु, वृक्ष--पत्र. नदी-पर्वत इनसे लेकर रवि-चन्द्र, ग्रह, तारा तक-अनंत द्वार से एक विश्व-शक्ति उसके व्यक्तित्व का पोषण करती है। उसने देखा कि पृथ्वी-सूर्य-अग्नि से पिता माता स्वजन तक—सब उसके प्रति उसी मंगलमय विश्व-शक्ति के एक २ अवतार हैं। सब मानों एक भाव से प्रेरित होकर उसके व्यक्तित्व-विकास में लगे हुए हैं।

'शिशु ने केवल इतना ही नहीं देखा, वरन् बढ़ने के साथ ही साथ उसने यह भी समझा कि जगत् में स्वार्थ-पर होकर मैं अवतीर्ण हुआ—पहिले जिसे देखा कि उस पर शत्रु भाव से आक्रमण कर उठा।

लेकिन जगत् की तमाम शक्तियों ने मेरी उस शत्रुता पर प्रति-शत्रुता नहीं की। उन सब ने मेरे कान में, मानों मेरे प्रकृत स्वार्थ, मेरे परम मंगल, की वार्ता कह दी। जगत में शत्रुता कहां? अनंत मंगलमय चेष्टा में संकीर्ण स्वार्थ को स्थान नहीं। इस मंगलमय शक्ति के समक्ष मुझे आत्म-विक्रय करना होगा—यह करना ही मुझे उचित है। वैसा न करने से मेरे जीवन का कुछ अर्थ नहीं।

सिर्फ यही नहीं। क्रमशः वयस और ज्ञान-शक्ति के परिपाक के साथ उसने अनुभव किया कि जिस पृथ्वी पर उसने पहिले पदाघात किया था, क्रमशः पदाघात करते २. उसी पृथ्वी ने उसके दोनों पैरों को दृढ़ और कर्मक्षम बना दिया। उसी सूर्य ने चक्षु को व्यवहारोपयोगी बनाया; एवं समस्त अंग-प्रत्यंग, अस्थि-शिरा-स्नायु और इन्द्रियादिकों को प्रकृति की शक्तियों ने ही मिल कर तैयार किया। माता के स्नेह से लेकर नदी पर्वत आदि की शोभा, यहां तक कि रोग शोक तक-सब ने मिल कर उसके हृदय में 'भाव' को जन्म दिया और जगत् के चित्र-वैषम्य ने उसकी 'बुद्धि' का विकास किया। नक्षत्र-गुम्फित गगन-तल, घनघटा की भीमकांति-छवि, प्रातः गगन की अरुण-द्युति, पर्वत की महीयस्ता, समुद्र का गांभीर्य, फूल की शोभा जब उसने देखी; अरण्यानि का मर्मर, गिरि-नदी का झर्झर, पतत्रि का कलतान प्रभृति जब उसने सुना—उसे नहीं मालूम क्यों, किस प्रकार, उसका हृदय किस भाव से उछलने लगा! दरिद्र का दुःख, आत्मीय—नाश का शोक, रोगी की यन्त्रणा देख कर, क्यों किस प्रकार उसका प्राण संकुचित हो उठा! उसे नहीं मालूम कि क्यों वह उन सब में कभी २ अपने को भूल बैठता है? यह पेड़ छोटा है और वह वृक्ष बड़ा यह पास है वह दूर,

यह ऊंच है और वह नीच यह किस प्रकार जान कर और छांट कर उसने क्रिया विधान किया, यहभी–उसने नहीं समझा। फलतःउसने अनुभव किया कि अज्ञात भाव से अनन्त-चित्र विश्व की शक्तियों ने ही उसके शरीर, अंगप्रत्यङ्ग, इन्द्रिय आदि से बुद्धि, भाव, क्रिया तक, सब—कब और किस प्रकार ? तैयार की। वह अपने को सिर्फ उनसे बना हुआ ही नहीं वरन् उन सब शक्तियों का एक पुंजीभूत अवतार मानने लगा। उसे मालूम हुआ जैसे मानों वे सब शक्तियां उसके भीतर घुस गई हों। उनके अतिरिक्त उसकी अपनी कुछ और स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसलिये वह ध्यान करने लगा कि यह सारा विश्व जिस शक्ति का विकास है, मैं भी वही महाशक्ति हूं–भेद असंभव है। मैं वही हूं–'सोऽहं'।

उपनिषद् आदि आर्य शास्त्रों में वैदिक व्यक्तित्व विकास के यह सब लक्षण सुस्पष्ट दीखते हैं। अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् में सब लोग इस भाव का स्पष्ट विकास कर सकेंगे। जो आत्मा भीतर और बाहर समान है, जो 'दृष्टा स्प्रष्टा, श्रोता घ्राता, रसयिता, मंता, वेत्ता, विज्ञान स्वरूप' होकर भी 'परेक्षयेरआत्मनी' (अर्थात्–बहिः प्रकृति की व्यापकता में प्रतिष्ठित) है, उसका स्वरूप निर्णयकर ऋषि ने गाया:—

"पृथवी च पृथवी मात्रा, आपश्चापो मात्रा, च तेजश्चतेजो मात्रा.
"च वायुश्च वायु मात्रा, चाकाशश्चाकाश मात्रा च, चक्षुश्च दृष्टव्यंच,
" श्रोत्रं च श्रोत्रव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च,
"त्वक च स्पर्शयितव्यं च, वाकूच वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च,
" उपस्थं चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गंतव्यं च.
" मनश्च मतंव्यं च, बुद्धिं च बोद्धव्यं च, अहंकारश्चाहंकर्तव्यं च,

"चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च.
"प्राणश्च विधारयितव्यं च,..........।"

ये सब आत्मा का वैसे ही आश्रय करते हैं जैसे पक्षी पेड़ का। इन सब के आवरण के भीतर आत्मा को पहचानना होगा। ये सब आत्मा के अवयव सदृश हैं। बाहर से ये सब विश्वात्मा के अवयव और व्यक्ति में वे ही अव्यक्त शक्ति के अवयव हैं।

सांख्यकार ने भी उनके परिणामवाद समझाने के समय व्यक्तित्व विकासके इस मौलिक सत्यको स्पष्ट लक्ष्य किया है। उन्होंने स्थिर किया कि पंच तन्मात्र (अर्थात्—'क्षित्यपतेजमरुद्व्योम' इन पंच महाभूतों की सूक्ष्म अवस्था) से, रूप-रस-गंध-स्पर्श शब्द-रूप से, क्रमशः इन्द्रियों का विकास होता है एवं पीछे उनसे महाभूतों का आविर्भाव होता है। फलतः तन्मात्र, मनुष्य की इन्द्रियां और पंच, महाभूत—तीनों में उसने प्रकृतिगत प्रभेद नहीं देखा। यहां जो स्वाभाविक व्यक्तित्व-विकास की बात कही गई है, उसमें भी ठीक वही देखा जाता है।

एक व्यक्ति का मौलिक स्वाभाविक विकास हम देख चुके। देख चुके कि प्राचीन पुरुषों ने व्यक्ति के इस मौलिक विकास को लक्ष्य कर, इसी के अनुसार जगत् की व्याख्या की है। किंतु हम लोगों को यह और देखना होगा कि इसी स्वाभाविक साधना में, इस व्यक्तिगत जीवन के मौलिक विकास के सदृश ही, आर्य के जातीय-जीवन ने भी विकास पाया। एक व्यक्ति में हमने जो देखा, आर्य के जातीय-व्यक्तित्व में भी हम वही विकास, वही प्राकृतिक साधना देखेंगे।

जाति के बिलकुल निर्बोध शैशवकी बात वर्तमानकी विज्ञान-दृष्टि से जो कुछ भी समझी जाय, सुन्दर की बात है कि अति आदिम काल से आर्य जीवनकी विकास-प्रणाली अर्थात् उसकी स्वाभाविक साधना और आदर्श को लक्ष्य कर उसकी व्याख्या करने में हम लोगों को विशेष कुछ असुविधा नहीं होती। ऊपर व्यक्तित्व-विकास के सम्बंध में उपनिषद् से जो प्रमाण दिया गया, वह व्यक्ति के सम्बंध में जिस तरह प्रयोज्य है, जातीय जीवन के सम्बन्ध में भी ठीक वैसे ही प्रयोज्य है। आर्य के जातीय जीवन का भी परमादर्श वही--'सोऽहं' है। समस्त विश्व में आत्मा को व्याप्त देखना और आत्मा में विश्व को प्रतिफलित देखना ही आर्य का जातीय भाव और जातीय आदर्श है।

वस्तुतः यहां 'जातीय भाव' ऐसा कोई अलग भाव नहीं था। वह व्यक्ति ही में पाया जाता है। और जो भाव जाति के सब लोगों में साधारण भाव से देखा जाय, वही जातीय भाव है। उससे ही जातीय व्यक्तित्व की प्रकृति और आदर्श मालूम पड़ते हैं। फिर उन समस्त भाव राशि के भी एक सामूहिक व्यक्तित्व रहता है। यह सामूहिक व्यक्तित्व आर्य जीवन के नियम के अनुसार ही वृद्धि और क्षय पाता है। उस जातीय भाव के आदर्श की साधना या क्रम विकास जब देखेंगे तब हमें पृथ्वीके पुराणतम ग्रन्थ और आर्यकी महामौलिक सम्पद्, वेद, से अनुसंधान प्रारम्भ करना होगा। एवं व्यक्ति जीवन में हम लोगों ने जो आलोचना की उसके प्रति लक्ष्य रख कर, ठौर २ पर, हमें यही प्राकृतिक जातीय साधना खोजनी होगी। इस क्षुद्र प्रबन्ध में विशेष विवरण देने का अवकाश नहीं है; इसलिये सामान्य भाव से विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर हम सिर्फ एक नज़र डाल लेंगे।

हम ... वेद ... आदम अनुभूति स्पष्ट प्रस्फुट हु... ें विश्व-त्राण, क्षुद्र-सरल भाव से आर्य-ऋषि-कंठ भेद कर स्वतः ... उठी। किंतु आज कल कारण-वादी अनुसंधान-पर पंडित लो... ; आर्य जाति की भी बिलकुल नवीन शैशव की बात वेदों ... हुई। उस समय का तो साहित्य ही नहीं मिलता। जब उस ... साहित्य था तब अवश्य उस में साधारण शिशु-द्वैत भाव प्रकाशित हुआ होगा। उस समय शायद सब पशु-पक्षी के सदृश जीवन व्यतीत करते होंगे। अपने को जगत से विच्छिन्न मानकर प्रकृति को ठौर २ पर आक्रमण कर खाद्यादि संग्रह कर जीविका चलाते होंगे।

उसके बाद क्रमशः जगत् की विभिन्न वस्तुओं में शक्ति देखकर पूजा करने की अवस्था आती है। इसको यूरोपीय पंडित लोग जीवनवाद (Anim ism) कहते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण सोम अग्नि आदि की उपासना में ऋषि लोगों ने जो मंत्र गाये उन्हें कोई २ यूरोपीय पंडित यही 'जड़में जीवन वाद' के जीवन अनुभव का फल मानते हैं। किंतु मैक्स मुलर (Maxm uller) आदि अन्य यूरोपीय सत्य-संदिच्छु लोगोंने प्रमाण कर यह दिखा दिया हैं कि आर्य जातीय मौलिकता बहुत सारवान है। 'जड़में जीवनवाद' की अवस्था उसमें कभी थी भी या नहीं--इसमें संदेह है। जातीय जीवन के बिल्कुल प्रारम्भ में भी आर्य ने प्रत्येक जड़ शक्ति के अन्तराल में सामूहिक विश्व-शक्ति को अनुभव कर आराधना की। मैक्समूलर इसे जड़ जीवनवाद न कहकर--'जड़ शक्ति में विश्व जीवनवाद' (Henotheism) कहते हैं। ऋग्वेद-संहिता के सब मंत्र देखने से हठात् प्रतीत होता है कि ऋषि लोगों ने स्वतंत्र भाव से भिन्न २ शक्ति की पूजा की; लेकिन, अनु

संधान करने से मालूम होता है कि प्रत्येक शक्ति में वे उसी महाशक्ति का दर्शन करते थे। इन्द्र, अग्नि, आदि नाना नाम से उन्होंने उसी महाशक्ति की धारणा की। स्वतंत्र भाव से उन्होंने इन्द्र और अग्नि आदि की पूजा की—यह सच है; लेकिन जब जिसकी भी पूजा की उसमें अनन्त विश्व शक्ति की कल्पना अवश्य करली।

उदाहरण स्वरूप, ऋषि परुक्षेप अग्नि की आराधना कर कहते हैं–

'विश्वो विहायाः' (ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १९, मंत्र ६) अर्थात् अग्नि ही सर्व व्यापी शक्ति है।' फिर विश्वमित्र ऋषि इन्द्र को कहते हैं—

''प्रमात्राभि रिरिचे रोचमानः
''प्रदेवेभिः विश्वतोऽप्रतीतः
'प्रमज्मना दिव इन्द्र पृथिव्याः
प्रोरोर्महो अन्तरीक्षा दजीषी। (मंडल ३, सूक्त ४६, मंत्र ३)

अर्थात्—'तुम पर्वत से बड़े हो, किसी प्रकार तुम्हारी इयत्ता नहीं है। तुम शक्ति से स्वर्ग-मर्त्य सब अभिभूत किये हुये हो।' फिर कश्यप पुत्र मेधातिथि कहते हैं—

''इन्द्रवरुणयोरहं, सम्राजोरव, आवृणे तनो मृलादीदृशे
(मंडल १, सूक्त १६, मंत्र १)

अर्थात्—'मैं इन्द्र, वरुण की आराधना करता हूं—वे सब के ऊपर अधि पति हैं (सबसे बड़े देवता हैं) इसलिये वे हमें सब सुख समृद्धि देंगे।

इस प्रकार ऋषि लोगों ने प्रत्येक शक्ति की उपासना की। किंतु उन्होंने जो भिन्न शक्ति के अतराल में विश्व-शक्ति देखी, वह बीच २ में

इस तरह स्पष्ट हो जाती है। प्रत्येक देवता की स्वतंत्र उपासना करते समय ऋषि लोगों ने कभी २ "विश्वे देवा:" पद को भी व्यवहार कर उपासना की; और उसमें उनकी वह विश्वशक्ति की धारणा परिस्फुट होगई। उसी 'विश्वे देवाः' का आवाहन कर ऋषि दीर्घतमा ने स्पष्ट गाया—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि मोहुतथा दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्
'एकं सद्विप्राः बहुधा, वन्दत्यग्निम् यमं मातरिश्वान माहु:

(मंडल १, सूक्त १६४, मंत्र ६४)

अर्थात्—उन्हीं 'विश्वेदेवाः, यानी विश्व शक्तियों, को ऋषि लोग 'इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि' (नाना भाव से) कहते हैं। 'सुपर्ण' अर्थात् सुन्दर पक्ष-युक्त, 'गरुत्मान्' अर्थात् दीर्घ भी वही है। एक होने पर भी शक्ति विकास के प्रकार-भेद के अनुसार विप्र (ऋषि लोग) उसे 'अग्नि, यम, मातरिश्वा' आदि नाम से पुकारते हैं।

वेद में इस प्रकार विश्व की प्रत्येक शक्ति के अन्तराल में अनन्त मंगलमय के विश्व-विकास का आराधित होना देखा जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी इसलिये ऋषि ने समझा कर कहा—

"सहस्र शीर्षा पुरुष: सहस्राक्षः सहस्रपात्
"स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठत्—"

अर्थात—'(सर्व शक्ति रूप) वह पुरुष असंख्य मस्तक, असंख्य चक्षु, असंख्य पादमय रूप में सर्व प्रकार से इस भूमि अर्थात् सर्वक्षेत्र या सृष्ट स्थान को आवृत कर, इससे भी अधिक में परिव्याप्त थे।

किंतु इन सब धारणाओं में जातीय व्यक्तित्व का द्वैतभाव भी प्रकाश पाता है। आर्यसंतान अनंत विश्व शक्ति का अनुभव करते हैं, उपासना करते हैं, लेकिन उस शक्ति की मानों प्रकृत व्याख्या नहीं कर पाते। इसलिये द्वैत भाव फिर फूट पड़ता है। अज्ञात भाव से ऋषिकण्ठ भेदकर उपासना की वाणी निकल उठती है।

यह सब अज्ञात-विश्वबोध ज्ञानकी व्याख्या में स्पष्ट क्रम-विकास पाता है, यह अनुसन्धान किया जा सकता है। वेद की संहिता सिर्फ आराधना का सरल मंत्र है। उसमें विश्व शक्ति का अवबोध मात्र रहना स्वाभाविक है। उस समय विश्वशक्ति के साथ मनुष्य कर्म-सम्पर्क में आया, लेकिन यह सम्पर्क स्पष्ट नहीं हुआ। संहिता के बाद ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण में क्रियाकांड का विस्तार है। यहां मुख्य भाव से जाति के, विश्व शक्ति के साथ नाना सम्पर्क में आनेके उदाहरण मिलते हैं। याग-यज्ञादि के विपुल आयोजन और नाना-विधि साडंबर पूजा-पद्धति में जाति ने विश्वशक्ति का व्यवहार किया। यहां विश्वशक्ति के साथ इन्द्रिय-अवयवादि का एकत्वबोध प्रगट होना ही स्वाभाविक है। इसलिये ब्राह्मण से उपनिषद् का निकास है। यहां, विश्वशक्तियों से इन्द्रिय अवयवादि की सृष्टि है एवं वे इन्द्रियादि भी इन समस्त शक्तिमय या शक्ति रूप हैं, पहिले ऐसी अनुभूति का स्पष्ट उद्रेक हुआ। और उसी कारण ऋग्वेद संहिता में उस तरह स्पष्ट न होने पर भी, उस चिंता ने प्राचीन उपनिषदों में पूर्ण विकास पाया —यह देखा जाता है।

उपनिषद् में कभी जगत की प्रकृति (पदार्थ) के साथ मनुष्य की इन्द्रिय और शरीर एक कहा गया, कभी कहा गया कि जगत की शक्तियों

से इन्द्रियों की शक्ति प्रभावित है और दोनों एक दूसरे से अभिन्न है। इस प्रकार कभी द्रव्य तो कभी शक्ति क्रम से भीतर और बाहर की अभेद कल्पना वहां दीख पड़ती है। स्थूलतः वहिर्जगत् की व्यापक शक्ति की प्रेरणा से इन्द्रियादि शक्ति-सम्पन्न और क्रियावान् है और फलतः वह इन्द्रियादि विश्वव्यापी शक्ति और विश्वात्मा से उत्पन्न हैं—उनकी प्रकृति अभिन्न है। यह भाव उपनिषद् में प्रायः सर्वत्र देख पड़ता है। केनोपनिषद् में पहिले ही ऋषि ने गाया—

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
"केन प्राणःप्रथमे प्रैतियुक्तः
"केनेषितं वाचमिमां वंदति
"चक्षु श्रोत्रं को देवो युनक्ति"

अर्थात—'मन किसके द्वारा प्रेरित (प्रभावित) होकर अपना कर्म करता है। प्राण सर्व श्रेष्ठ शक्ति होने पर भी किसके द्वारा चालित (प्रभावित) होकर अपने काम में नियुक्त होते हैं? किस शक्ति के प्रभाव से मनुष्य बात कहते हैं? कौन देवता चक्षु और कर्णों को अपने विषय व्यापार में लगाते हैं?'—इन प्रश्नों के उत्तर में पिछले मन्त्र में कहा गया—

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः
"यद्वाचो हिवाचं, सः प्राणस्य प्राणः
"चक्षुशश्चक्षुः निमुच्य धीराः
"प्रेत्यास्मां ल्लोकादमृता भवन्ति।"

अर्थात्—'वही परमात्म शक्ति कर्ण का कर्ण (श्रवण शक्ति) मन का मन, वाक्य का वाक्य है, वही प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु

है। जो धीर भाव से आलोचना करता है वह इन सब इन्द्रियों के आत्मा कहने के भ्रम को समझ सकता है। वह प्रकृत आत्म शक्ति की धारणा कर अमृतत्व पाता है, अगले मंत्रमें फिर वही शक्तिधारणा स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति, नवा गच्छति नो मनः
"न विद्मो न विजानीमो, यथेतदनुशिष्यात् ॥"

अर्थात्—'वहां तक चक्षु नहीं जाता, वाक्य नहीं जाता, मन नहीं जाता। हम लोग उसे नहीं जानते। इस सम्बंध में उपदेश देना हमें नहीं आता। ज्ञात-अज्ञात सब पदार्थों से वह भिन्न और सर्वोपरि है। विचक्षण लोग इस प्रकार कहते हैं—यह हमने सुन पाया।

वह शक्ति कोई इन्द्रियलब्ध पदार्थ नहीं है—यह यहां स्पष्ट कर दिया जाता है। इन्द्रियलब्ध द्रव्य में उसका भ्रम करने से ऋषि रोकते हैं। मुण्डक उपनिषद्, द्वितीय भाग, प्रथम खंड, तृतीय मंत्र में कहा गया है—

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेंद्रियाणि च
खं वायु ज्योंतिरापः, पृथिवी विश्वस्यधारिणी"

अर्थात—'इससे प्राण, मन, इन्द्रियां, पंच महाभूत पैदा होते हैं।' इन्द्रियादि के साथ बहिर्जगत् का सम्बंध यहां स्पष्ट है। किंतु यह सब जड़-पदार्थ-विचार से जीवंत-शक्ति की धारणा तक पहुंचने का मार्ग मालूम होता है। पहिले, इन्द्रियादि को जड़ पदार्थ के साथ अभिन्न माना गया—ऐसा जान पड़ता है। कभी २ उपनिषद् में ऊपर से यही भाव

दीखता है। छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय, पंचम खंड में, प्राण-मन आदि, आत्मा के द्वारा प्रदत्त, अर्थात् उपभोग्य, विषय से निर्मित है—ऋषि ने ऐसा बतलाया। किंतु इसमें जड़वाद नहीं है। जड़ से शक्तिमय चेतन का उद्भव है—ऐसा विचार करना ठीक नहीं। आर्य का स्थायी विश्वभाव इससे बिलकुल भिन्न है। 'आत्मा के द्वारा प्रदत्त' यह वाक्यांश भी यहां मौजूद है। जिस आर्य ने ऋग्वेद मंत्र में जड़ के अन्तराल में शक्ति की पूजा की उसके आराधना-मंत्र में यह जड़-भाव ज़ाहिरा तौर पर है—यह मानने पर भी इसे कभी शक्ति-धारणा से भिन्न समझ लेना ठीक नहीं।

जड़ से शक्ति का विकास नहीं है। यहां तक कि जड़ भी शक्ति से भिन्न और कुछ नहीं है। उस शक्ति और अन्तः शक्ति, दोनों के, अभेद-भाव के विकास पर इस लिये हमको लक्ष्य रखना होगा। उसी अभेद-उपलब्धि की ओर जाकर ऋषि कहते हैं—

"अग्निर्वाक् भूत्वा, मुखं प्राविशत्। आदि"

(ऐत्तरीय उपनिषद १।४)

अर्थात्—'अग्नि ने वाक्य का रूप धारण कर पुरुष-मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण होकर नासिका में प्रवेश किया-आदि।'

शिष्य के ब्रह्म (आत्म) पदार्थ के स्वरूप के विषय में संदेह कर गुरु से पूंछने पर गुरु कहते हैं—

"यन्मनसा न मनुते येनाभिर्मनोमतं।
"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
"यत्चक्षुसा न पश्यति ये न चक्षुंषि पश्यति।

"तदेव ब्रह्म त्वं..................आदि
"यच्छ्रोत्रेण न शृणोति न श्रोत्रमिदं श्रुतं
"तदेव..................आदि
"यत्प्राणेन न प्राणीति येन प्राणः प्रणीयते ।"

अर्थात्—मन से जो नहीं समझा जाता, लेकिन मन जिसके द्वारा समझता है; आंख से जो नहीं दीखता पर जिसकी वजह से आंख देख सकती है; कान से जो नहीं सुन पड़ता, लेकिन जिसके कारण कान सुनता है; बात से जो नहीं वर्णा जाता लेकिन जिसके कारण बात वर्णन करती है; प्राण से जिसे जीवित नहीं किया जाता, किंतु प्राण जिसके द्वारा जीते है—उसे ही तू 'ब्रह्म' मान। इससे भिन्न और जिसको ब्रह्म समझ कर उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।' यहां विश्व शक्तिमय परमात्मा और मनुष्यात्मा का अभिन्न सम्बंध स्पष्ट है। जड़ में शक्ति-विकास का भ्रम होने की कोई भी आशंका नहीं। गुरु स्पष्ट कहते हैं कि जो अनंत शक्ति विश्वमय व्याप रही है, वही मानवात्मा के भीतर एक प्रकार अवतार ग्रहण करती है। इस प्रकार नाना भाव से शरीर-अवयवादि की शक्ति के साथ विश्व-शक्ति का एकत्व अवबोध उपनिषद् में दीखता है। साधना की इस अवस्था में आर्य के आदर्श 'सोऽहं' के विकसित होने में कुछ विशेष संदेह की बात नहीं है। अंतर में जैसे एक शक्ति वहिर्जगत् को आक्रमण करती है, वहिर्जगत् में उसी तरह की शक्ति प्रतिघात से अनुभूत होती है। वहिर्जगत् के विग्रह के साथ शरीर का प्रभेद नहीं है। वहिर्जगत् के शक्ति समूह के साथ इन्द्रियात्मक पुरुष की ज्ञानकर्म प्रेरणा-तत्र शक्तियों का अभिन्नता स्थिर हुई; तब और शक्तिद्वय की एकती में क्या संशय है।

उपनिषद् में इस लिये कभी बाहर से आत्मा के भीतर का अवबोध और कभी भीतर से बाहर का अवबोध दीख पड़ता है। विश्व-मय आत्मा की उपासना और उससे अपने आत्म-अवबोध के विषय में उदाहरण देकर प्रबंध बढ़ाने का प्रयोजन नहीं। यह क्षुद्र प्रबंध इन सब का स्थान भी नहीं है। फिर ऊपर प्रसंगांतर में जो उदाहरण दिए गये हैं उन से इस सम्बंध में यथेष्ट इंगित मिल जावेगा।

अंदर से बाहर की उपलब्धि भी उपनिषद में पूर्ण है। मनुष्य ने जैसे ज्ञान-कर्म-प्रेरणा की शक्तियों को लेकर पुरुष-रूप में संसार में कर्म-प्रबंध खोल दिया, विश्वात्मा को आर्य लोगों ने उसी प्रकार पुरुष रूप में कल्पना किया है। यही अंदर से बाहर की उपलब्धि का यथेष्ट निदर्शन है। इस सम्बंध में अन्यान्य उपनिषद के इतस्ततः मंत्रों में बृहदारण्य उपनिषद विशेष भाव से खोजने लायक है। फिर उसमें प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण के प्रारम्भ में विश्वात्मा और मनुष्य की अंतरात्मा के विषय में जो मंत्र है, वह आर्य जीवन के आदर्श की, और प्राकृतिक साधना की, सिद्धि के विषय में एक सुंदर आलेख्य देता है। ऋषि ने गाया—

"आत्मै वेद मग्रमासीत् पुरुष विधः।
"सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनेऽपश्यत् सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्। ततोहं नामा भवत्
"तस्मादप्ये तर्ह्या मंत्रितोऽहमस्मी त्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूने।
"यदस्य भवति स यत्पूर्वो स्मात्सर्वान्पापानामौषत् तस्मात्पुरुषः॥"

अर्थात्—'सब से पहिले वह आत्मा पुरुष के सदृश (ज्ञानकर्म प्रेरणा-शक्ति परायण) थीं। उसने चारों ओर दृष्टि डाल कर, आलो-

ध्यना करने पर, अपने से भिन्न कुछ नहीं देखा। उसने पहिले 'अहम् अस्मि' (मैं सब की आत्मा हूं) यह कहा। इस कारण वह 'मैं' (अहं) नाम से परिचित हुई। इस लिये अब भी "तुम कौन हो ?" यह पूंछते ही लोग कहते हैं "अहम् अस्मि (यह मैं हूं)"। इतना कह चुकने पर अपना नाम और दूसरा परिचय देते हैं। और चूंकि उन आदि पुरुष ने पूर्व का सब पाप दग्ध किया था, निष्कलंक हुए थे, इससे उनका नाम हुआ 'पुरुष' (पूर्व औषत्—पूर्व पाप को दग्ध करने वाले, इससे पुरुष)

समस्त विश्व ब्रह्मांड की मूल शक्ति के साथ "मैं-त्व" (अहंत्व) की यह एकता ही आर्य जीवन विकास के स्वाभाविक आदर्श रूप में स्फुट हुई है। प्राकृतिक साधना में, आर्य जीवन की यही सिद्धि है—यही मौलिक जातीयता का स्वतः-सिद्ध आदर्श है। इसमें अनंत सृष्टि की महाशक्ति के साथ आत्म शक्ति एक है। सर्वत्र अभेद नीति है। घृणा नहीं है-वैषम्य नहीं है। समस्त विश्वब्रह्मांड में आर्य एक विश्वमय शक्ति देखते हैं। संसार की सरल व्याख्या उनके लिये—

"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन, सर्वं मृण्मयं विज्ञातं
"स्याद्वाचा रम्भणं विकारो, नामधेयंमृत्ति केत्येव सत्यं।

(छान्दोग्य ६। १। ४)

अर्थात्—'मृण्मय सब द्रव्य (घट आदि) जैसे एक ही मिट्टी से बन कर नाम रूप भेद से भिन्न २ हैं, नाम-रूप-मय विचित्र विश्व भी उसी प्रकार एक ब्रह्म पदार्थसे निर्मित, एक ब्रह्म पदार्थ की ही अभिव्यक्ति है।

अवश्य, यहां भी, आर्य के इस ब्रह्म पदार्थ को जड़ प्रकृति की

केवल एक एकत्व धारणा समझना ठीक नहीं है। यह एक जीवंत शक्ति है। पुरुष के सदृश जीवन्मय और अनंत प्रेरणा-परायण है। इस विश्वव्यापी शक्ति का अनंत, जीवनविचित्र, उद्भव वर्णन कर आर्य फिर कहते हैं—

"अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः
"अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च, येनैष भूतै स्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा"
(द्वितीय मुंडक १।५।९)

अर्थात्—ऋक् प्रभृति वेद से लेकर गिरि नदी समुद्र तक—सब इससे ही हुये। इसने सबके अन्तरात्मा रूप में सब को शक्तिमान् किया। यही फिर वायु या सूर्य के सदृश सर्व भूतों के भीतर है किंतु किसी के सुख-दुःख विकारादि में लिप्त नहीं है। वही मनुष्य के भीतर विद्यमान् है (देखिये कठोपनिषद् २,२,२,१०—११)

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्
"स आत्म तत्वमसि (छान्दो ६,८,८-१५)

अर्थात—वह सूक्ष्म पदार्थ ही यह समस्त तत् स्वरूप है। यही सत्य है, वही आत्मा है—वही तुम हो। वही भीतर है, वही बाहर है।
(छान्दो० ७,२५ २) और वही—

"दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्या भ्यंतरोह्यजः"
अर्थात—'वही दिव्य (तेज-स्वरूप) रूपहीन पुरुष, वही जन्म वर्जित (चित्) शक्ति बाहर और अभ्यंतर में सदा विद्यमान है।'

कहना अनावश्यक है कि वह ब्रह्म या आत्मा, वह विश्व व्यापी और अभ्यंतरीण शक्ति, सच्चिदानंद स्वरूप है। जैसे कहते हैं—मैं जानता हूं, मैं अनुभव करता हूं; अब जो "मैं" यहां सब कुछ करता है

उसे कोई नहीं जानता। किंतु हमारे समस्त ज्ञान समस्त क्रिया और समस्त अनुभव का निदान वह "मैं" ही है। ज्ञान कर्म-अनुभव-मय उस अहं-रूप स्थिर सत्ता का पूर्ण विकास ही हमारे व्यक्तित्व को प्रकाश करता है। विश्व शक्ति में उसी प्रकार एक विश्वव्यक्तित्व काल क्षण और इङ्गित देदीप्यमान् है। और मेरे ज्ञान-कर्म-अनुभव के साथ इस विकास-पर विश्व का नित्य सम्बन्ध रहा है। किंतु विकसित विश्वका वह "मैं", यानी सत्ता या आत्मा, बाह्य वस्तु की उस आभ्यंतरिक शक्ति, अर्थात् अज्ञात विकास के उस विकासात्मक विभाव, या मूलाधार के समस्त बाह्य ज्ञान को अतिक्रम करता है। फलतः एक, या एक प्रकार की, बाह्याभ्यंतर विकासात्मक शक्ति या पदार्थ के आत्मलाभ से व्यक्ति और विश्व उद्भित होते हैं—इत्यादि दार्शनिक तत्व व्याख्या का यह स्थान नहीं है; तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आर्य ने इस प्राकृतिक साधना से, इस स्वाभाविक आत्मप्रसार से जो पदार्थ लाभ किया, जो आत्म-स्वरूप अनुभव किया, उसके मार्ग से उसने अपने को विश्वके साथ मिला दिया। सृष्टि पदार्थ के सम्बन्ध में उसे और संशय नहीं रहा। इस क्षेत्रमें वह जातीय जीवन की अतुलनीय मौलिकता दिखा गया है।

अन्त में संदेह दूर कर देने लिये एक बात यहां फिर अच्छी तरह समझ रखना ठीक है। श्रुतिशास्त्र आदि का उपदेश यदि जीवन के इस आदर्श को दृढ़ और स्थिर रखने का उद्यम या प्रयास होते तो श्रुति के ये सब प्रमाण जीवनके प्राकृतिक विकास और मौलिक साधना को कैसे साव्यस्त कर सकते? यहां इसे और ज्यादे समझाने की जरूरत नहीं है। श्रुति श्रुति है—सुन २ कर लोग उसे मन में रखते थे। साधारण भाव से समझने से, जाति के लोगों के मन में जब, जो भाव, स्वतःफूट उठे, मन की तरङ्ग में, प्राण

के पुलक में, वे उसी भाव से उसे गाने लगे। ये सब गान ही हम लोगों की श्रुति हैं-हमारे वेद हैं। यह मनीषियों का प्रचारित मतवाद नहीं। पहिले लिखा जाकर, या विधिवत् संकलित करके यह नहीं फैलाया गया। जातीय जीवनके स्वभाव विकासमें जो भाव, भाव,जब कभी जातिकी सम्पत्ति बन गये, वही सब सर्वप्राण आर्य ऋषिके ज्ञान में प्रकाशित हो उठे, उन्हेंही सुन २ कर,चारणगानकी गाईं,लोग मनमें रख लिया करते,इसलिये ही आज हम लोग वेद देखते हैं। आज वह सब ग्रंथ रूपमें लिपि बद्ध हैं-यह सच है; किंतु कभी किसी को उपदेश देने के लिये वे सब नहीं लिखे गये। उन्होंने शिक्षणीय विषय के समान समाज के मुख्य व्यक्तियों द्वारा सीधे प्रचार नहीं पाया। वे मनीषियों के दर्शन मत या विज्ञान की आविष्क्रिया नहीं है---जाति का स्वभाविक भाव-विकास मात्र है। इसलिये इस देश के जन साधारण, वेद या शास्त्र न जानते हुये भी कम-अधिक परिमाण में उसी भाव से भावान्वित हैं।

आज समाज में जो प्रतिमा पूजा और बहुत से देवी देवताओं के रूप में ईश्वर-उपासना का अनुष्ठान हम लोग देखते हैं—यह उस वैदिक आर्य उपासना की छाया मात्र है; स्वतंत्र जड़ शक्ति पूजा में अनन्त विश्व-शक्ति का अवबोध मात्र है। जो लोग आर्य भूमि में प्रतिमा पूजा की प्रकृति और प्रक्रिया को आलोचना पूर्वक समझेंगे, उन्हें निश्चय इसमें 'विश्वे देवाः मंत्र' दीख पड़ेगा पृथ्वी में बहुत सी आदिम जातियों में प्रतिमा-पूजा है; लेकिन अनेक जगह वह सब केवल भय से जड़-पूजा है, किंवा जड़ में शक्ति का आरोप मात्र है। उसमें इस अनन्तत्वका अवबोधनहीं है। शिव (मंगलमय शक्ति)

विष्णु (सर्व व्यापी शक्ति) प्रभृति की पूजा को प्रतिमा पूजा नाम देकर जो लोग आर्य के माननीय अवलंबन में से सच्चिदानन्द स्वरूप जीवंत विश्व शक्ति की पूजा के—'चिदानन्द रूपः शिवोऽहं' भाव की समालोचना करने के लिये प्रवृत्त होते हैं, उन्हें प्रतिमा पूजा का यह प्रकृति वैशम्य सबसे पहले हृदयंगम कर लेना चाहिये। किंतु आर्य सदा निज भूमि में ही बँधा रह कर नहीं बढ़ा। वह तो अन्य भाव और आदर्श के सम्पर्क में रहता आया है; अन्य प्रकार की शिक्षा उसने पाई है। बहुत से कारणों से इस भूमि में आर्य भाव के शिथिल होजाने की आशंका आर्य मनीषियों को हुई। उस शिथिलता की प्रति-विधान-कामना से या या जातीय आदर्शको दृढ़ बनाये रखने के लिये, इस देशमें पीछे कितने ही धर्म तत्वों का प्रचार, शास्त्र-पुराणों की सृष्टि और आर्य-भाव-शिक्षाकी व्याकुलता दीखती है। लेकिन किसी जगह भी नूतन साधना या आदर्श किसी ने नहीं बतलाया। इसलिये मनीषी शास्त्रकार लोग जो उपदेश देते हैं, उसमें सर्वत्र वेद ही प्रमाण है। वेद का वह स्थिर आदर्श ही इस जाति की परम सम्पदा है। वही इस जाति का मौलिक मेरुदंड है। वह आत्म प्रसार और वह आत्मोत्सर्ग इस भूमि में जब तक रहेंगे तब तक इस जाति की जातीयता निश्चल है। रक्त-मांस-पिंड में, या अपरिवर्जित भूमि खंड में जातीयता नहीं रहती। जातीयता रहती है भाव में, आदर्श में—जातीय जीवन की मौलिकता और शक्ति में। संसार के कर्म चक्र में मोह आ सकता है, अनार्य भाव आक्रमण कर सकता है, जीवनसंग्राम भ्रुकुटि-त्रास पैदा कर सकता है—किंतु आर्य भाव जगत् में स्थिर और दृढ़ रखना होगा। समस्त आवरण के अन्दर जीवात्मा परमात्मा का यह महा समन्वय, अनन्त प्रीतिकर कल्याण-स्वरूप यह स्थिर कर्तव्य रूप व

धर्म की महीयस्ता हृदय में दृढ़ रखनी होगी। जीवन की शक्ति दृढ़ रखने पर किसी आदान या आहरण से जातीयता नष्ट नहीं होगी। विश्वशक्ति की अनन्त सत्ता हृदय में दृढ़ रहने पर जीवन संग्राम में और संशय नहीं रहेगा, मोह नाश होगा, पाप क्षय होगा—

"भिद्यन्ते हृदय-ग्रन्थि, छिद्यन्ते सर्व संशयाः
"क्षीयंते चास्यपापानि, तस्मिन् दृष्टे परावरे।"